ओ३म्

वैदिक उपदेश माला

आचार्य श्री अभयदेवजी विद्यालङ्कार

अनीता आर्ष प्रकाशन द्वारा प्रकाशित दुर्लभ पुस्तकें

		मूल्य
(१)	अष्टाध्यायी सूत्र पाठः वार्तिक गणपाठ सहितः अनुवृत्ति निर्देश समन्वितश्च *संस्कर्ता-श्री शंकरदेव पाठक*	२०.००
(२)	आर्य समाज के दस नियम *आचार्य विश्वबन्धु शास्त्री-दर्शनवाचस्पति*	५.००
(३)	महर्षि दयानन्द यांचे चरित्र कामगिरि (मराठी) *हरिसखाराम तुंगार*	२०.००
(४)	त्यागवाद *स्वामी विद्यानन्द सरस्वती*	१५.००
(५)	पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी *डॉ० राम प्रकाश*	१५.००
(६)	चतुर्वेद शतक *स्वामी अच्युतानन्द सरस्वती*	२०.००
(७)	महत्ता अमीचन्द की भजनावली *प्रो० भवानी लाल भारतीय*	२०.००
(८)	ब्रह्मचर्य का वैज्ञानिक स्वरूप *डॉ० त्रिलोक चन्द*	८.००
(९)	मिट्टी का घर *डॉ० ओमप्रकाश वेदालंकार*	२०.००

व्यवस्थापकः

लाला आदित्य प्रकाश आर्य

५००/२ हलवाई हट्टा

पानीपत (हरियाणा)

ओ३म्

स्वाध्याय ग्रन्थमाला का द्वितीय पुष्प

वैदिक उपदेश-माला

[परिवर्धित प्रथम संस्करण]
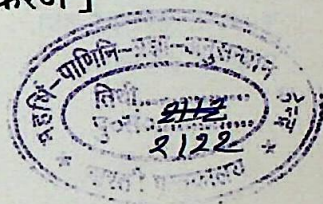
लेखक

आचार्य श्री अभयदेव जी विद्यालङ्कार

['वैदिक विनय', 'तरङ्गित हृदय' आदि ग्रन्थों के रचयिता]
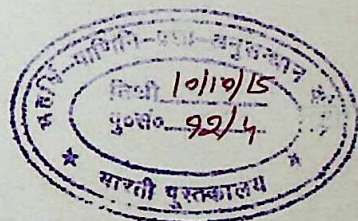
सम्पादक

आचार्य ब्र० नन्दकिशोर

अनीता आर्ष प्रकाशन

५००/२, हलवाई हट्टा, पानीपत (हरयाणा)

प्रकाशक :
लाला आदित्यप्रकाश आर्य
अनीता आर्ष प्रकाशन
५००/२, हलवाई हट्टा,
पानीपत (हरयाणा)

संस्करण : प्रथम
(गुरुपूर्णिमा, श्रावणी कृष्ण-१ संवत् २०५२-५३)

मूल्य : २०/-

लेज़र टाइपसैटिंग :
सौफ्टेक कम्प्यूटर
वेद-मन्दिर, इब्राहिमपुर
दिल्ली-३६

मुद्रक : जोगेन्द्र सैन एण्ड ब्रादर्स
ए-३०/१, नारायणा फेस-I,
नई दिल्ली-११००२८

विषय-सूची

दो शब्द

पाठकवृन्द देखेगें कि इस पुस्तक में बारह वेदोपदेश संगृहीत हैं। इनके लेखक गुरुकुल कांगड़ी के भूतपूर्व आचार्य श्री पूज्य अभयदेव (देव शर्मा 'अभय') जी हैं जो वेदों का मनन करनेवाले और वेदोपदेश को वस्तुत: जीवन में लानेवाले हैं। ये बारह लेख श्री आचार्यजी ने ऋषि दयानन्द शताब्दी के महोत्सव से, जो कि मथुरा में १९८१ संवत् की शिवरात्रि पर मनाया गया था, बारह महीने पहले लिखने प्रारम्भ किये थे।

महोत्सव मनाने तथा प्रचार-कार्य के लिए धन एकत्रित हो रहा था, आर्यसमाज के सभासद् खूब बढ़ाए जा रहे थे, धर्म-प्रचार के लिए कई ग्रन्थ तैयार किये जा रहे थे। मतलब यह है कि वैदिकधर्मी समाज में खूब यत्न हो रहा था, परन्तु लेखक महोदय ने सोचा कि क्या इस सौ वर्ष के बाद आनेवाले उत्सव पर इतना ही कार्य पर्याप्त है? इसलिए आपके मन में जिज्ञासा उत्पन्न हुई कि इस महोत्सव से वे अपना क्या बनावें? ऋषि के इस सार्वभौम स्मरण के शुभ अवसर से अपना कल्याण किस प्रकार करें? और फिर निश्चय किया कि इस अवसर से लाभ उठाकर वर्ष-भर के अन्दर वे अपने-आप को दृढ़ "वैदिकधर्मी" बनावें। इसलिए आगामी बारह महीनों में अपनी प्रतिमास एक-एक वैदिक उपदेश को चुना और दयानन्द के पवित्र उच्च जीवन से सहायता लेकर उसको अपने जीवन में चरितार्थ करने का यत्न किया। आपका विशेष प्रयोजन यह था कि अगली शिवरात्रि तक आप बारह उपदेशों से सुसज्जित होकर अपना उत्सव मना सकें और कह सकें कि आप वैदिकधर्मी हैं, दयानन्द के शिष्य हैं। आपका विचार था कि विस्तार की उन्नति की अपेक्षा गहराई की उन्नति से ही विशेष लाभ हो सकता है। आर्यसमाजी कहलानेवालों की संख्या बढ़ने तथा पुस्तकों और व्याख्यानों के बहुत हो जाने की अपेक्षा यदि थोड़े-से मनुष्य ही उथले वैदिक-धर्मियों के स्थान पर गहरे वैदिकधर्मी बन जावें तो इससे बढ़कर वैदिक धर्म की सेवा और कुछ नहीं हो सकती। उपदेशों के फैलानेवालों की जगह उपदेशों को धारण करनेवाले समुद्र हम बन जावें तो इससे बढ़कर वैदिक धर्म का प्रचार और क्या हो सकता है! इसलिए आपने उन वैदिकधर्मी सज्जनों के लिए, जिनका कि मन आप जैसा है, इस लेख-माला में प्रतिमास उस उपदेश को लेखबद्ध किया है जिसको कि आपने वेद से और दयानन्द के जीवन से ग्रहण कर उसे महीना-भर अपने जीवन में लाने का यत्न किया है।

आपके ये मनोहर उपदेश क्रमश: स्वाध्याय मण्डल के मासिक पत्र "वैदिक धर्म" में प्रतिमास एक-एक उपदेश करके प्रकाशित होते रहे

थे तथा इनको संगृहीत कर स्वाध्याय मण्डल ने प्रथम संस्करण पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया था। इसका द्वितीय संस्करण आर्यसमाज शिमला ने आचार्य जी की अनुमति से १९३८ में प्रकाशित किया था, एवं इस पुस्तक की ६००० प्रतियाँ बिक चुकी हैं। आपके इन उपदेशों से बहुत-से लोगों ने बहुत लाभ प्राप्त किया है। ये उपदेश इस समय भी ताजे हैं और उतने ही कीमती हैं। अतएव हमने इन उपदेशों को एक स्थिर रूप देने की आवश्यकता समझी तथा धर्म-पिपासु पाठकों के लिए इनको पुनः मुद्रित कर यह नवीन संस्करण प्रकाशित किया है। इस तृतीय संस्करण में श्री पूज्य आचार्यजी ने पुस्तक को बिल्कुल नवीन कर दिया है। वर्तमान के अनुसार बहुत-से उपयोगी परिवर्तन किये हैं तथा एक अध्याय तो बिल्कुल ही बदल दिया है। आशा है, माला की इस नवीन सुन्दरता को पाठक विशेषतया अनुभव करेगें।

यह उपदेशों की माला वैदिक धर्म के प्रत्येक प्रेमी के लिए है। इसमें बारह मनके हैं। एक वर्ष में यह माला फेरी जाती है। अभ्यासी इस माला के प्रत्येक वैदिक तत्त्वरूपी मनके फेरने में एक मास से कम या अधिक समय भी लगा सकता है, परन्तु इस माला के बार-बार फेरने—बार-बार मनन करने से ही कल्याण होगा। प्रत्येक पुरुष को चाहिए कि वह धर्म को—वेदोक्त धर्म को—अपनी जान समझे। प्रत्येक आर्य को, जिस किसी के पास यह छोटी-सी पुस्तक पहुँचे, इसका ऐसा सदुपयोग करना चाहिए कि वह प्रत्येक वर्ष (प्रत्येक बारह मासों में) इस माला को फेरता हुआ दिनोंदिन वेद के प्रतिपाद्य एक तत्त्व—भगवान् के अधिक-अधिक समीप पहुँच जाय। इस विषय में मन में ज़रा भी सन्देह नहीं रखना चाहिए कि वेद का एक भी शब्द अच्छी तरह समझा हुआ हमें पार तारने में पर्याप्त है।

आशा है कि यह उपदेश-माला जिस किसी के पास पहुँचेगी वह तभी से प्रतिमास एक-एक उपदेश को अपने जीवन में चरितार्थ करते हुए अपने-आपको 'गहरा और सच्चा' वैदिक धर्मावलम्बी बनाने का यत्न करेगा, अपने को "सच्चा आर्य" बनाएगा। पाठकों को यह बतलाने की ज़रूरत नहीं है कि परमात्मा के दरबार में सचाई ही स्वीकृत होती है, ढोंग नहीं; और सचाई को प्राप्त करने के लिए "धर्म को जीवन में लाना" यही एक उपाय है।

निवेदक
हरिकृष्ण वेदालङ्कार
मन्त्री, श्री अरविन्द निकेतन
चरथावल, जिला मुजफ़्फ़रनगर
उत्तर प्रदेश

२१.२.५१

इस माला के 'मोती'

सं श्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन वि राधिषि।

देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायंप्रातः सौमनसो वो अस्तु।

उद्यन्त्सूर्य इव सुप्तानां द्विषतां वर्च आ ददे।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्याऽपिहितं मुखम्।

ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकाँस्तपसा पिपर्ति।

कृषन्नित्फाल आशितं कृणोति यन्नध्वानमप वृङ्क्ते चरित्रैः।
वदन्ब्रह्मावदतो वनीयान् पृणन्नापिरपृणन्तमभि ष्यात्॥

माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः।

मा व स्तेनऽ ईशत माघशंस सः।

श्रद्धया विन्दते वसु।

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्।
इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि॥

उदगादयमादित्यो विश्वेन सहसा सह।
द्विषन्तं मह्यं रन्धयन्मो अहं द्विषते रधम्॥

दृते दृंह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्याऽहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥

ओ३म्

[१]

उपदेश ग्रहण करना

सं श्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन वि राधिषि।

—अथर्व० १।१।४

अथर्ववेद के प्रारम्भ में (पहले ही सूक्त में) प्रार्थना की गयी है कि हम (श्रुतेन) जो कुछ सुनें उससे (सं गमेमहि) संयुक्त हो जायँ, सङ्गत हो जायँ, वह हमारे जीवन का अंश बन जाय। (श्रुतेन) जो कुछ सुनें, उससे (मा विराधिषि) हमें वियुक्त मत करो।

कल्याण-मार्ग पर चलना चाहनेवाले के लिए सबसे पहली बात यही है कि वह जो कुछ सुने, पढ़े, उपदेश प्राप्त करे, उसे वह पालन करे, अमल में लावे, आचरण करने लगे और अपने जीवन का हिस्सा बना लेवे। उसे अनसुना न कर दे; सुने हुए को छोड़ देने की आदत न डाले। मतलब यह है कि सबसे पहले हमें उपदेश ग्रहण करना सीखना चाहिए, तभी हम किसी उपदेश का लाभ उठा सकेगें। तो पहली बात जो हमें महीना-भर अभ्यास करनी है वह यह है कि हमें जो कुछ भी अच्छी बात सुनाई दे या पढ़ने आदि से मिले उसे हम जाने न दें, उसे अपना लेवें।

शिवरात्रि की घटना में इसके अतिरिक्त और क्या है? दयानन्द ने इस रात्रि को बोध प्राप्त किया। शिवलिंग पर चूहे के चढ़ने की घटना ने दयानन्द को प्रबुद्ध कर दिया। क्या उस रात्रि को किसी ने वेद-मन्त्र सुनाकर दयानन्द को उपदेश दिया था या मेज़ के पीछे खड़े होकर किसी ने व्याख्यान सुनाया था? परन्तु फिर भी उस रात्रि से दयानन्द को एक ऐसा बोध हुआ कि जब तक दयानन्द का दुनिया में नाम है, तब तक यह रात्रि बोध-रात्रि के नाम से प्रसिद्ध रहेगी। इसलिए सौ बातों की एक बात करना जानते थे। वे उपदेश ग्रहण करने के लिए तैयार थे। इसलिए उन्हें उपदेश मिला। यही दयानन्द का मूल है। हम भी यदि उपदेश ग्रहण करना जान जायँ, तो हमारे भी परम कल्याण का मूल यही बात हो सकती है। बस—

उपदेश ग्रहण करनेवाले बनो!

उपदेश ग्रहण करनेवाले बनो!

शिवरात्रि की घटना चिल्ला-चिल्लाकर दयानन्द के शिष्यों को यही उपदेश दे रही है। क्या हमें यह उपदेश सुनाई देता है या हम उन्हीं लोगों

में से हैं जिनके कि विषय में वेद ने कहा है—

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।

—ऋ० १०।७१।४

कई ऐसे लोग हैं जो देखते हुए भी नहीं देखते, सुनते हुए भी नहीं सुनते।

कहीं हम ऐसे तो नहीं हो गये हैं कि हमारे कान खुले हुए हैं, तो भी हमें सुनाई नहीं देता? यह बहुत ही बुरी अवस्था है।

सुनो, शिवरात्रि का उपदेश सुनो!

अच्छी आदत के कारण जहाँ मनुष्य का भला आसानी और शीघ्रता से होने लगता है, वहाँ आदत बुरी होने के कारण पतन भी इतने वेग से होने लगता है कि उसका लौटना अत्यन्त दुष्कर हो जाता है। आदत ऐसी ही वस्तु है। प्रतीत होता है कि हमें यह आदत पड़ गई है कि "हम उपदेश पढ़े, व्याख्यान सुन लेवें, पर उसके अनुसार कर्म न करें"। ज़रा ध्यान से सोचें कि यह कितनी भयङ्कर बात है! जिसे ऐसी आदत पड़ गई है, उसका उद्धार होने की क्या कभी सम्भावना है? वह जो कुछ सदुपदेश की बात सुनेगा या पढ़ेगा, वह उसे मान ही नहीं सकता, वह उसे ग्रहण ही नहीं कर सकता, क्योंकि यह उसकी आदत हो गई है। यह बात अच्छी तरह विचारने योग्य है। यदि किसी को यह रोग हो जाय कि वह जो कुछ खावे, वह सब वैसा-का-वैसा ही निकल जाय, तो उसके घर-भर में घबराहट हो जायगी, लोग वैद्यों-हकीमों के पास दौड़ेंगे, जी-जान से सब-कुछ करेंगे; और यह भी हम जानते हैं कि यदि ठीक इलाज न हुआ तो उसका मर जाना निश्चित है। परन्तु महा आश्चर्य की बात यह है कि हममे से बहुतों के मानसिक शरीर में यह भयङ्कर बीमारी हो चुकी है, परन्तु हम बिलकुल बेखबर हैं। हमें कुछ चिन्ता नहीं। ऐसे भी बहुत-से मनुष्य हैं, जिनकी कि इस घोर व्याधि से मानसिक मृत्यु भी हो चुकी है, यद्यपि उनके केवल स्थूल शरीर को दृष्टि में रखकर कह सकते हैं कि वे अभी जीवित हैं। क्या आप इस घातक रोग को समझे? उपदेश आदि से जो हमें ज्ञान मिलता है, यह ही मानसिक भोजन है। जिन्हें यह आदत हो गई है कि वे सुनते जाते हैं और पढ़ते जाते हैं, परन्तु उनपर उसका कुछ असर नहीं होता, उनका सुना और पढ़ा वैसा-का-वैसा निकल जाता है, उनकी भगवान् ही रक्षा करें। महादु:ख तो यह है कि उन्हें अपनी बीमारी का पता ही नहीं है! इसलिए हमें इस महीने अपने अन्दर टटोलकर देखना चाहिए कि कहीं हमें यह रोग तो नहीं हो गया है? रोग का पता लगने पर उसका हटाना कठिन नहीं है। परमात्मा सदा सहायक है। यदि हममें से किन्हीं

को यह रोग हो, तो सबसे पहले उन्हें इससे मुक्त होना चाहिए। वे अपनी आदत को बदल डालें। महीना-भर यत्न करें कि जो कुछ उन्हें जहाँ कहीं से ज्ञान मिले, उसे अपने जीवन में लाने के लिए वे सब-कुछ करें तो कल्याण का मार्ग खुल जाएगा। यही पहला कदम है। जो सुनेंगे, वह करेंगे, यह निश्चय करना चाहिए। इस निश्चय के बिना सब पढ़ना या सुनना व्यर्थ है। व्यर्थ ही नहीं, अत्यन्त हानिकारक है, क्योंकि यह उस नरक में ले-जानेवाली आदत को बढ़ायेगा। इसलिए आज से हम दृढ़ निश्चय करके इस आदत को एकदम त्याग दें और परमात्मा से पूर्ण विनय के साथ प्रार्थना करें—

सं श्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन वि राधिषि।

—अथर्व० १।१।४

हम जो कुछ सुनें उससे हम सङ्गत हो जाएँ, जुड़ जाएँ, जो कुछ सुनें, वह निकल न जाए।

इसी का नाम है ''उपदेश ग्रहण करना''। इसी का नाम है मानसिक भोजन प्राप्त करना।

यदि हम उपदेश ग्रहण करना सीख जाएँ तो हमारे लिए सब तरफ उपदेश-ही-उपदेश हैं। जैसे दयानन्द ने उस रात्रि की घटना से उपदेश लिया, हम भी प्रतिदिन प्रकृति से, मानवी संसार की घटनाओं से उपदेश ले सकते हैं। परम कारुणिक भगवान् हम पर उपदेशों की वर्षा कर रहे हैं, केवल हम उसे सुनते नहीं हैं! यदि हम सुनने लगें तो देखेंगे कि उदय होता हुआ सूर्य हमें कुछ कहता है, तारा-जटित रात्रि का आकाश हमें कुछ सुनाता है, बहती हुई नदियाँ और ऊँचे खड़े हुए पहाड़, वृक्षों के हिलते हुए पत्ते और बहता हुआ पवन, बल्कि प्राणियों के जटिल संसार में होनेवाली घटनाएँ, ये सब हमें उपदेश दे रहे हैं।

वृक्ष से गिरती हुई सेव का उपदेश न्यूटन ने सुना और वह आज सारे वैज्ञानिक संसार का गुरु हो गया। उपरे से गिरती हुई चीज़ें हममें से किसने नहीं देखी हैं? परन्तु हम देखते हुए भी नहीं देखते, सुनते हुए भी नहीं सुनते। चरणदास महात्मा कहते हैं कि मैंने २४ गुरु बनाये हैं। वे २४ गुरु हैं छिपकली, मकड़ी, वृक्ष इत्यादि। क्या आपको मालूम है कि बुद्ध भगवान् को 'बुद्ध' बनानेवाली घटना क्या थी? वे जब अत्यधिक तपस्या करके क्षीण हो चुके थे तो उन्होंने एक दिन पास में की गई एक महफ़िल में से वेश्या का गीत सुना, जिसकी टेक का मतलब यह था कि सितार के तार बहुत कसे हों तो भी वह ठीक नहीं बजता, और ढीले हों तो भी स्वर नहीं निकलता। इतने ही से उन्होंने 'समता' का महान् सिद्धान्त सीख

लिया जो बौद्ध-शिक्षा का एक बड़ा अङ्ग है, और अति तपस्या छोड़ दी। महफ़िल के लोग तो वेश्या के हाव-भाव ही देखते या कानों ही को तृप्त करते रहे होंगे, पर बुद्ध को उसमें से कुछ और ही बड़ी भारी वस्तु मिल गई। एक तरफ बुद्ध ने एक वेश्या के गीत से ही यह उपदेश ले लिया, जिसके कारण उनका जीवन पलट गया, दूसरी तरफ हम बड़े-बड़े विद्वान् पुरुषों के उपदेश सुनते हैं और वेदोपदेश सुनते हैं, तो भी हमारे पल्ले कुछ नहीं पड़ता। कारण यही है कि हम उपदेश लेने के लिए तैयार नहीं हैं। हमारी आँखें और कान खुले नहीं हैं। इसलिए सबसे पहली बात यही है कि हमें उपदेश ग्रहण करना सीखना चाहिए; उपदेश को लेने के लिए तैयार होना चाहिए। अन्य सब बातें इसके बाद में हैं। ''वेद सचमुच रत्नों की खान है'' और ऋषि दयानन्द के जीवन से भी हम बहुत-से रत्न प्राप्त कर सकते हैं, परन्तु यदि हम इस पहली बात को नहीं सीखेंगे, रत्नों को ग्रहण करना, उठाना नहीं जानेंगे, तो हम रत्नों के ढेर के बीच में बैठे हुए भी कङ्गाल-के-कङ्गाल ही रहेंगे। इसमें किसी और का क्या दोष है?

[२]

एकान्त विचार

देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायंप्रातः सौमनसो वो अस्तु।

—अथर्व० ३।३०।७

यदि हमने यह निश्चय कर लिया है कि हमें जो कोई ज्ञान प्राप्त होगा उसे हम अवश्य ग्रहण करेंगे, तो हमें अब स्वभावत: यह जानने की इच्छा होगी कि उस ज्ञान को, उस उपदेश को धारण करने, अपने में स्थिर करने का उपाय क्या है?

इसका एक ही उपाय है और इस बात में किसी का भी मतभेद नहीं है, इस उपाय को यदि मैं ठीक-ठीक शब्दों में प्रकट करना चाहूँ, तो इन दो शब्दों में रख सकता हूँ 'एकान्त विचार'। हमें जो कुछ उपदेश मिले, एकान्त में होकर उसपर बार-बार विचार करना चाहिए। इस प्रकार उसे हम अपने में स्थिर कर सकते हैं। जैसे कि मुझे ज्ञान हुआ कि सत्य बोलना चाहिए, तो किसी समय बैठकर मुझे सोचना चाहिए कि यह बात कहाँ तक ठीक है? यदि ठीक है तो मैं सत्य क्यों नहीं बोलता हूँ? किन-किन प्रलोभनों अथवा भयों के कारण असत्य बोलता हूँ? उनके जीतने का उपाय क्या है? असत्य से मेरी क्या हानि हुई है? सत्य का जीवन में किन-किन वस्तुओं से सम्बन्ध है? इत्यादि-इत्यादि। सत्य पर खूब विचार करना चाहिए। इस प्रकार यह वस्तु मेरी हो जावेगी। नहीं तो यदि मैं सत्य पर एक बड़ी भारी पुस्तक पढ़ डालूँ, परन्तु इसपर कभी स्वयं विचार न करूँ तो मेरा सत्य से कभी भी कोई भी सम्बन्ध नहीं स्थापित होगा, सत्य मेरे जीवन में नहीं आवेगा। जैसे कि बाहर रक्खे हुए भोजन का मेरे शरीर से कुछ सम्बन्ध नहीं है, ऐसे ही पुस्तक पढ़ लेने पर भी मेरा सत्य से कुछ सम्बन्ध नहीं होगा। इसके लिए तो विचार करना चाहिए, मनन करना चाहिए और जो मनुष्य मनन करनेवाला है, उसे तो इतना ही ज्ञान मिलना पर्याप्त है कि 'सत्य बोलना चाहिए'। वह मनन द्वारा उसका स्वयमेव विस्तार कर लेगा और इसे अपने में धारण भी कर लेगा।

हममें से कइयों को बड़ी-बड़ी पुस्तकें पढ़ने या लम्बे-लम्बे व्याख्यान सुनने का व्यसन होगा, परन्तु यदि एक बात को लम्बा ही करना है तो मैं उन्हें यह सलाह दूँगा कि वे उसे अपने मन द्वारा उस पर मनन कर उसे लम्बा कर लिया करें; इसकी अपेक्षा कि वे एक लम्बी पुस्तक

पढ़ें या एक लम्बा व्याख्यान सुनें, अपने को अपने-आप व्याख्यान देना चाहिए। स्वयं विचार करते समय वस्तुतः यही क्रिया होती है। जिनको ऐसा व्यसन नहीं है उन्हें भी जब कभी कोई विस्तृत उपदेश पढ़ने का अवसर आवे, तो उन्हें चाहिए कि वे उस विस्तृत उपदेश पढ़ने का अवसर आवे, तो उन्हें चाहिए कि वे उस विस्तृत कथन को संक्षेप से मन में रक्खें और फिर एकान्त में अपने मन द्वारा उसका पुनः विस्तार करें। इस दूसरे अपने मन में किये विस्तार से वह उपदेश उसमें गृहीत हो जायगा, उसका अपना बन जायगा। ज्ञान को धारण करने का, मानसिक भोजन को हज़म करने का यही उपाय है—'एकान्त विचार'।

यहाँ 'एकान्त' कहने से क्या मतलब है? हम प्रायः सदैव ही बाहिर के प्रभावों से प्रभावित होते रहते हैं; अपने से अतिरिक्त बाहिर की वस्तुएँ हमारा ध्यान आकर्षित करती रहती हैं, और हमारा मन उन ही का चिन्तन करता रहता है। इन प्रभावों और बाह्य विचारों को कुछ समय के लिए हटाकर अपने-आप में अकेले होकर बैठिए। एकान्त होने से यही मतलब है। इस अवस्था में बैठने से ही अपने पर ठीक प्रकार विचार किया जा सकता है।

मनुष्य असल में है ही अकेला। अपने कर्मफल पाने में उसका कोई और हिस्सेदार नहीं है। जब हमें कोई कष्ट-क्लेश होता है तो हमारे परम-से-परम हितकारी भी हमारी कुछ सहायता नहीं कर सकते, जब तक कि हमारे अपने कर्मानुसार वैसा होना सम्भव न हो। इसलिए मनुष्य ने अपना असली मार्ग अकेले ही तै करना है। दूसरा मनुष्य थोड़ा-सा सहायक हो सकता है, पर चलना उसने अपने-आप है। इसलिए एकान्त होना अपने को अपनी स्वाभाविक अवस्था में लाना है। इसी को 'स्वस्थ' होना कहते हैं, अपने-आप में स्थित होना। 'कैवल्य' का भी अर्थ यही है, केवल होना, अकेला होना। इसलिए प्रतिदिन अकेले होकर, अपनी आत्मा के पास बैठकर, अपने पर विचार करना चाहिए।

इसी का नाम आत्म-निरीक्षण है। जैसे एक बनिया अपने हानि-लाभ का हिसाब करता है, वैसे ही प्रत्येक मनुंष्य को अपने परम हानि-लाभ का प्रतिदिन हिसाब-किताब करना चाहिए। मैं कमा रहा हूँ या खो रहा हूँ, इसका हिसाब न करनेवाले पुरुष का यदि प्रतिदिन घाटा हो रहा हो, तो भी उसे इसका पता नहीं लगेगा। तो वह घाटे को कैसे पूरा करेगा? बिना आत्म-निरीक्षण के अपना उद्धार कैसे करेगा?

आत्म-निरीक्षण प्रारम्भ करने पर कईयों को बड़ी घबराहट होती है। अपनी अनगिनत त्रुटियाँ दिखाई पड़ती हैं, बड़ा भारी घाटा हुआ अनुभव होता है। इस घबराहट के मारे कई भाई आत्म-निरीक्षण करना छोड़ देते

हैं। पर उन्हें यदि यह पता लग जाय कि इस घबराहट को सहना चाहिए तो बड़ा भला होगा, क्योंकि इस घबराहट के सह लेने पर अपने अन्दर से उन्हें बड़ी शान्तिदायिनी सान्त्वना मिलेगी और दिन-प्रतिदिन आत्म-निरीक्षण में इतना आनन्द आने लगेगा कि वे उम्र-भर इस 'एकान्त विचार' को नहीं छोड़ सकेंगे।

इस विचार के लिए स्वाभाविक समय है प्रातःकाल और सायङ्काल। हमारी दो अवस्थाओं के ये अन्त के समय हैं। 'जाग-रितान्त' और 'स्वप्नान्त' से आत्मा को जाना जा सकता है, ऐसा उपनिषद् में कहा है। प्राकृतिक दृष्टि से भी यह समय हमारे मनन के लिए बहुत अनुकूल है। स्वभावतः इन समयों में आत्मा के पास बैठा जाता है। इन्हीं समयों में प्रतिदिन बैठकर हमें अपने लाभ और हानि पर, अपनी अवस्था पर विचार करना चाहिए। यदि कोई मनुष्य अपने में से कोई दुर्गुण हटाना चाहता है तो वह कभी नहीं हट सकता, यदि वह कभी अपने पर विचार नहीं करता, चाहे वह कितने उपदेश सुनता रहे। यदि मैं क्रोध छोड़ना चाहता हूँ तो मुझे प्रतिदिन सायं-प्रातः विचार करना चाहिए कि मैंने आज कितनी बार क्रोध किया, क्यों क्रोध किया और फिर दृढ़ निश्चय करना चाहिए कि कल ऐसा नहीं करूँगा। इसी प्रकार हम दुर्गुणों को हटाने और सद्गुणों को धारण करने में कृत-कार्य हो सकते हैं। उपदेश को धारण करने का यही एकमात्र उपाय है। श्रवण के बाद मनन करना चाहिए।

इस उपदेश को मैंने निम्न वेदमन्त्र से ग्रहण किया है—

दे॒वा इ॑वा॒मृतं॒ रक्ष॑माणाः सा॒यंप्रा॑तः सौम॒न॒सो वो॑ अस्तु।

—अथर्व० ३।३०।७

"हे मनुष्यो! जैसे देवता अपने अमरपन की रक्षा करते हैं वैसे तुम सायं-प्रातः 'सौमनस' को प्राप्त होओ।"

देवता न मरनेवाले हैं। यही देवों का देवत्व है। हम उनके मुक़ाबिले में 'मर्ताः'—मरनेवाले हैं। जैसे कि देव अपने देवत्व, अमृत की रक्षा करते हैं, वैसे ही हमें सायं-प्रातः 'सौमनस' को रखना चाहिए। 'सौमनस' का अर्थ है मन का अच्छा होना, अच्छा मनन। यह मनन ही मनुष्य का मनुष्यत्व है जैसे देवों का देवत्व अमरपन है। "मननात् मनुष्यः" मनुष्य इसीलिए मनुष्य कहाता है कि वह मनन करता है। यही उसकी पशुओं से भिन्नता है। यदि वह अपना मनन करना, विचार करना त्याग दे तो वह मनुष्य नहीं रहता। उसे सायं-प्रातः विचार करते हुए अपने मनुष्यत्व को क़ायम रखना चाहिए। जो इस प्रकार सायं-प्रातः अपना विचार नहीं करता वह मनुष्यत्व से गिर जाता है। इस प्रकार हमारे लिए एकान्त विचार का महत्व है।

जब मनुष्य अपने पर इस प्रकार विचार करता है, तब वह उस समय

के लिए अपने अन्दर चला जाता है। यह अपने अन्दर जाना मुझे ऐसा प्रतीत होता है, जैसे कि एक क़िले के अन्दर बैठ जाना। जिस प्रकार एक क़िलेवाला लड़ाकू योद्धा सदा लाभ में रहता है, उसी तरह जो मनुष्य एकान्त में जाना जानता है, वह इस दुनिया की लड़ाई में कभी हारता नहीं। आप प्रातः क़िले में से निकलिये और दिन-भर लड़कर फिर शाम को अपने क़िले में जाकर अपनी अवस्था देखिए, फिर दूसरे दिन तैयार होकर लड़िए। दिन में भी जब कभी अपने पर बहुत घाव लगे देखें, तो उस समय भी कुछ देर के लिए इस क़िले में चले आइये। यहाँ पर विचाररूपी वैद्य आपके सब घावों की मरहम-पट्टी क्षण-भर में कर देगा। मुझे इस एकान्त विचार से बहुत सुख मिला है, इसीलिए मैं आग्रह करता हूँ कि अन्य भी इसका परीक्षण करें। मुझे तो यह निश्चय है कि मुझे घोर-से-घोर दुःख मिले, तो भी यदि मुझे कुछ देर के लिए एकान्त में होना मिल जाय, तो मेरा तीन-चौथाई दुःख तो निश्चय से उसी समय दूर हो जावेगा।

इसलिए दूसरा वेदोपदेश हमें यह ग्रहण करना चाहिए कि हम आज से दोनों समय—प्रातःकाल और सायङ्काल, कुछ देर के लिए संसार को अपने से जुदा करके अपने पर विचार किया करें और उस समय में जो कुछ उपदेश व ज्ञान हमें दिन-भर में मिला हो, उसका अपने जीवन से सम्बन्ध जोड़ लिया करें। इसी प्रकार हम उपदेश को ग्रहण कर सकेंगे, क्योंकि मन ही एक स्थान है जहाँ कि हम ज्ञान-रत्न को लाकर रख सकते हैं। यदि हम ज्ञान-धनी बनना चाहते हैं, तो हमारे पास धन रखने के लिए स्थान होना चाहिए। इस धन के रखने का कोष बनाने के लिए भगवान् ने हम सबको ''हृदय'' दिया है। अब तक हमने मूर्खता से इसका उपयोग नहीं किया। अब से जो कुछ हमें ज्ञान मिले, हमें चाहिए कि हम एकान्त में जाकर मनन की क्रिया द्वारा उसे अपने इस दिव्यकोष (हृदय) में संभालकर रख लिया करें। इसी प्रकार हमारी कमाई सुरक्षित रह सकती है। नहीं तो हम लोगों में कहावत प्रसिद्ध ही है 'एक कान से सुना, दूसरे कान से निकाल दिया'। यदि ऐसी ही अवस्था है, तो हम ज्ञानरत्न को एक हाथ से उठाकर भी उसी समय दूसरे हाथ से उसे खो देंगे। इसलिए दूसरा आवश्यक क़दम यह है कि हम धन को सम्भालकर रखना भी जान जायँ।

पिछली बार हमने ज्ञानरत्न का उठाना सीखा था, यदि आज हमने यह दूसरा उपदेश भी ग्रहण कर लिया तो हम अब इन रत्नों को सुरक्षित रखना भी सीख जायँगे। अब और क्या चाहिए! अब तो हम देखेंगे कि जहाँ तक हमने इन दोनों प्रारम्भिक उपदेशों को सीख लिया है, वहाँ तक हम दिनों-दिन ज्ञान-धनी होते जा रहे हैं, यह हम ज़रूर अनुभव करेंगे।

[३]

प्रातः उठना

उद्यन्त्सूर्य इव सुप्तानां द्विषतां वर्च आ ददे।

—अथर्व० ७।१३।२

यदि मैंने और आपने पहला उपदेश "**सं श्रुतेन गमेमहि**" को ग्रहण कर लिया है और वेद की दूसरी बात अर्थात् "**एकान्त विचार**" पर भी हम अमल करने लगे हैं, तब तो हम इस बात के लिए तैयार हैं कि वेदाध्ययन से प्राप्त होनेवाले अन्य उपदेशों को भी सुनें, नहीं तो हमारा इस लेखमाला को आगे बढ़ाना वृथा है। अच्छा हो कि हम इसे न पढ़ें, जब तक कि हम आधार के इन दोनों उपदेशों को हृदयङ्गत न कर लें, परन्तु यदि हमने इन्हें हृदयङ्गत कर लिया है तो ठीक है, तब हम अन्य उपदेशों को ज़रूर पढ़ें। मुझे निश्चय है कि तब आप इन उपदेशों से लाभ भी ज़रूर उठाएँगे। ऐसे-ऐसे उपदेश आप-जैसे लाभ उठानेवालों द्वारा लाभ प्राप्त करने के लिए ही वेद में रक्खे हुए हैं, आप यह निश्चय से मानिये।

यह तीसरा उपदेश मैंने जिस वेद-वाक्य से ग्रहण किया है, वह इस प्रकार से है—

उद्यन्त्सूर्य इव सुप्तानां द्विषतां वर्च आ ददे।

—अथर्व० ७।१३।२

एक तेजस्वी पुरुष कहता है "जिस प्रकार उदय होता हुआ सूर्य सोनेवाले के तेज को ले लेता है, वैसे ही मैं अपने प्रतिद्वन्द्वियों के तेज को ले लेता हूँ।" हमें आज उस बात पर विचार करना है जो कि इस वाक्य में उपमा द्वारा वेद ने उपदिष्ट की है। यहाँ उपमा में यह बात मानी है कि उदय होता हुआ सूर्य सोनेवाले के तेज को ले लेता है। यही इस वाक्य में प्रकट किया हुआ सत्य है, जिसका कि ज्ञान हमें प्राप्त करना है। कई सज्जन कहा करते हैं कि लोग प्रायः अपनी मन की बाते वेद में से निकाल देते हैं, परन्तु यहाँ जो बात कही गई है, कम-से-कम मुझे वह पहले से ज्ञान नहीं थी। मैं अब भी नहीं जानता कि उदय होते हुए सूर्य द्वारा कैसे सोनेवालों का तेज हरा जाता है। मैं केवल यह बात वेद में लिखी देखता हूँ और इसे मानता हूँ। यदि वेद स्वतःप्रमाण हैं तो मुझे इस सत्य को सिद्ध करने के लिए, या इस सत्य पर विश्वास लाने के लिए अन्य प्रमाणों की ज़रूरत नहीं होनी चाहिए। मुझे इतना ही वेद से ज्ञान कर लेना

काफ़ी है कि जो सूर्योदय होते हुए भी सोया हुआ है उसका तेज ज़रूर नष्ट हो जाता है; तो फिर मैं प्रातःकाल सोता हुआ नहीं रह सकता, मुझे उस समय सोते हुए डर लगेगा। जो भी कोई सूर्योदय प्रारम्भ होने से पहले नहीं जाग जाता, उसे यह डर लगना चाहिए, उसे भयभीत होना चाहिए कि मेरा तेज नष्ट हो रहा है। हरएक ऐसे मनुष्य को, जिसे अपने तेज से कुछ प्रेम है, या तेज के महत्व को समझता है, अवश्य ऐसा भय उत्पन्न होगा। उसे अपने इस भय को दबाना नहीं चाहिए, किन्तु भय से प्रेरित होकर सन्मार्ग पर चलना चाहिए।

तेज क्या है? क्या आप यह जानते हैं? वेद में वर्चस् शब्द है जिसका अर्थ मैं यहाँ तेज-ऐसा कर रहा हूँ मेरी समझ में 'वर्चः' (तेज) हममें वह शक्ति या गुण है, जिसके कारण हम सब प्रकार की उनन्ति वा अग्रगति करते हैं। तेज-तत्त्व का स्वभाव ही आगे बढ़ना है। इस अपने आगे बढ़ने की शक्ति को—सब प्रकार उन्नति की शक्ति को हम खो रहे हैं, केवल प्रातःकाल न उठने के थोड़े-से आलस्य से; यह कितना आश्चर्य है!

प्रातःकाल का समय ऐसा है, जैसे कि मनुष्य की अवस्था में बाल्यकाल। बाल्यकाल में जो भी संस्कार हम डाल दें, वही हमारे सारे जीवन में चला जायगा। जैसा प्रातःकाल होगा, वैसा ही सम्पूर्ण दिन बीतेगा। जो प्रातःकाल को गँवाते हैं, वे अपने को उनन्त करानेवाली शक्ति को गँवाते हैं, वे अपने सुधार के लिए प्रतिदिन आनेवाले एक नये अवसर को गँवाते हैं, वे अपनी उन्नति के बीज को ही नष्ट कर देते हैं। ज़रा सोचिये प्रातःकाल न उठना कितनी अनमोल वस्तु को खोना है!

एक स्थान पर सच लिखा है कि "**ब्राह्मे मुहूर्ते या निद्रा सा पुण्य-क्षय-कारिणी**"—'ब्राह्ममुहूर्त में सोना पुण्यों का क्षय करनेवाला होता है।' रात्रि के अन्तिम मुहूर्त का—सूर्योदय से पहले मुहूर्त का नाम ही "ब्राह्म" है। यह ब्रह्म का, परमेश्वर का मुहूर्त है। यह ऐसा मुहूर्त है जबकि हम ब्रह्म के नजदीक होते हैं। इस समय सब लोगों के सोकर उठने के कारण, बहुत देर तक का समय मनुष्यों की वासनाओं से अनकुलित रहता है; मन की निरुद्ध अवस्था रह चुकी होने के कारण आत्मा अपने स्वरूप में स्थित होता है। सारी प्रकृति शांत होती है, इसलिये यह समय ब्राह्म मुहूर्त कहलाता है। रोज आनेवाले २४ घंटों में से यही एक समय ब्रह्म से मिलने का स्मरण करानेवाला आता है। यदि हम इसे ही रोज गँवाते जायँ तो हमारा पुण्य क्यों नाश न हो! हम पुण्य को खर्च करते जाते हैं, नया पुण्य नहीं कमाते, इसलिए पुण्य का नाश होता जाता है।

पुण्य ही नहीं, हमारा सब-कुछ नाश होता है। अंग्रेजों की भाषा में

एक कहावत है जिसका मतलब है कि "जल्दी सोना और जल्दी उठना मनुष्य को स्वस्थ, धनवान् और बुद्धिमान् बनाता है।" ऐसी कहावतें अन्य भाषाओं में भी होंगी। ऐसी-ऐसी कहावतें भी हमें इसी सत्य की तरफ़ संकेत करती हैं। सुबह उठने से स्वस्थ होना समझ में आता है, क्योंकि उस समय उठना प्राकृत नियमों के अनुसार है। नवजात बालक स्वयमेव प्रातः उठता है। पशु-पक्षी आदि सब स्वभावतः प्रातः उठते हैं। इसके अतिरिक्त उस समय की वायु का शरीर पर विशेष प्राणप्रद असर होता है, इसलिए प्रातः जागरण स्वास्थ्यप्रद है। बुद्धिमान् होना भी प्रातःकाल उठने से समझ में आ सकता है, क्योंकि उस समय की शांति का प्रभाव हमारे मन पर पड़ता है। परन्तु प्रातः उठने का धनवान् होने से सम्बन्ध कुछ कठिन प्रतीत होता है। आप कह सकते हैं कि बुद्धि अच्छी होने से धन भी मिलेगा।परन्तु असल में बात यह है कि ऐसे-ऐसे सभी लाभ प्रातः उठने के साथ जोड़े जा सकते हैं और यह सब ठीक भी है। यदि प्रातः न उठने से तेज नष्ट होता है तो ज़रूर हमारी सभी उन्नति नष्ट होती है, और यदि प्रातः उठने से तेज मिलता है तो सभी प्रकार की उन्नति मिलती है, अर्थात् प्रातः उठने के जो-जो लाभ कहे जाते हैं उन सब बातों की संगति तभी लग सकती है जबकि वेदोक्त "तेजोनाश" की बात मान ली जावे।

प्रातः-जागरण से तेज की रक्षा होती है इसलिये शारीरिक, आर्थिक, मानसिक, बौद्धिक आदि सभी प्रकार की उन्नति इससे होती है। इसीलिये दुनिया के जितने बड़े-बड़े पुरुष हुए हैं जिन्होंने कि किसी भी दिशा में बड़ा काम किया है, वे सब प्रातः उठनेवाले थे। ऋषि दयानन्द प्रातः उठते थे। महापुरुष नैपोलियन प्रातः उठता था। कुछ मास हुए अंग्रेजी की प्रसिद्ध पत्रिका 'Modern Review' में बहुत-से पाश्चात्य महापुरुषों के नाम छपे थे जो प्रातः उठने के अभ्यासी थे। इस देश के पूज्य ऋषि-मुनि प्रातः उठनेवाले थे, यह तो यहाँ कहने की ही ज़रूरत नहीं है। यद्यपि यह बहुत छोटी-सी बात है, परन्तु इसका कितना बड़ा भारी फल है! यदि हम इस छोटे-से गुण को धारण न कर इतने भारी लाभ से वंचित रहें तो हम कितने अभागे हैं!

जब आपने उपदेश ग्रहण करना सीख लिया है तो इस बात की शब्दों में अधिक व्याख्या करने की ज़रूरत नहीं। केवल यही ज्ञान काफ़ी है कि मुझे अपने तेज की रक्षा के लिए प्रातः उठना चाहिये और केवल यह उदाहरण काफ़ी है कि स्वामी दयानन्द भी प्रातः उठते थे। बस, अब से जब प्रातः उठने में आलस्य आवे, जी उठने को न करे, मन लेटे रहने के लिए बहाने बनावे तो बार-बार इस मंत्र को सोचिये। यह मंत्र आपको

पुकार-पुकार के कहे कि तेरा सब तेज नष्ट हो रहा है। इस विचार से आप एकदम विनिद्र होकर उठ खड़े होगे, आप लेटे रह ही नहीं सकेंगे। आप इस तरह जाग उठेंगे जैसे कि यह खबर पाकर कि आपके घर में चोर चोरी कर रहे हैं या आग लग गयी है और आपका घर जल रहा है, आप सोते नहीं रह सकते। यह तेज धन-दौलत की अपेक्षा बहुत ही कीमती चीज़ है। समझदार मनुष्य आग लग जाने से या सर्वसम्पति नष्ट हो जाने से इतना दु:खी नहीं होगा, जितना कि एक दिन के अपने तेजोनाश से। क्या आज आप इस प्रात:-जागरणरूपी ज्ञानरत्न को उठा ले जायेंगे और अपने हृदयरूपी पेटक में इसे सुरक्षित कर लेंगे?

देखो, कितना सुन्दर समय है! इस समय को 'अमृतवेला' कहा जाता है। इस समय प्रकृति कितनी शान्तिमयी और सुहावनी है! इस शान्ति और सुहावनेपन के यदि हम अपने हृदय में पान कर लें तो हम अमृत हो सकते हैं। यह तो है ही कि इस सुन्दर 'अमृतवेला' में जो संस्कार हम अपने में डालेंगे, वे हमारे अन्दर अमर हो सकते हैं, स्थायी हो सकते हैं।

यह जो सूर्य उदय हो रहा है, यह एक बहुत भारी घटना है और बड़ी आश्चर्यभरी घटना है। यह प्रतिदिन हो रही है और हमारी तरफ से बिना कुछ भी यत्न किये स्वयमेव हो रही है। इसलिये हम चाहे इसे कुछ भी महत्व न देते हों, पर यह कुछ साधारण बात नहीं है। इतने अन्धकार के बाद, सूर्य के उजले प्रकाश से इतनी देर तक बिल्कुल वंचित रहने के बाद, फिर भी सूर्य-प्रकाश की किरणें हमें मिल रही है। यह कितनी कृपा है! कितने आनन्द की बात है! इस कृपामयी, आनन्दमयी और आश्चर्यमयी घटना पर गहराई के साथ सोचो और इससे सीखो; तो तुम प्रकाश-मार्ग के पथिक बन जाओगे।

जिस समय प्रकाश और अँधेरा मिल रहे होते हैं, उस धुँधले समय में दो मिलती-जुलती चीजों को पहचानना कठिन हो जाता है। एक की जगह दूसरी का भ्रम बहुधा हो जाता है। इस प्रकार जब तक मानस में पूर्ण प्रकाश का उजाला नहीं हो गया है, तब तक प्रेम और मोह में भेद करना कठिन होता है। ये दोनों इतनी विपरीत चीजें हमें एक लगती हैं, विनय और खुशामत में विवेक नहीं हो पाता, विनय खुशामत दीखती है या खुशामत विनय समझी जाती है। इसी तरह धृष्ट होना और निधड़क होना, विलासिता और कला-दृष्टि, मद और आत्माभिमान आदि के विषय में करुणाजनक धोखे में रहते हैं और कुछ-का-कुछ समझते रहते हैं। परमेश्वर से हमें प्रार्थना करनी चाहिए कि वह हमारे मानस में पूरा-पूरा उजाला कर दे, जिससे कि हम अपनी अन्तर-अवस्था को, अपने-आप

को सही-सही और स्पष्ट देख सकें।

सोचो! एक बार उठकर फिर कहीं सो तो नहीं जाते! जब एक बार जाग गए, फिर क्या सोना है! गिरिधरदास का एक भजन मुझे बहुत प्रिय है। मैं उसे अक्सर गुनगुनाता हूँ। एक बार जगकर यदि पुनः सोने के मन चाहे तो इस गीत को गुनगुनाने लगो—

जब जाग गया फिर सोना क्या रे!
जो नर-तन देवन को दुर्लभ,
सो पाया, अब रोना क्या रे!
जाग गया फिर सोना क्या रे!

यदि तुमने कुछ चीज़ प्राप्त की है तो केवल ग़फ़लत और प्रमाद में पड़कर उसे क्यों गँवा दिया जाय?

हीरा हाथ अमोलक आया
काँच-भाव से खोना क्या रे!
जाग गया फिर सोना क्या रे!

[४]

प्रलोभन को जीतना

"हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्याऽपिहितं मुखम्।"

—यजुः० ४०।१७

पिछले लेख में हमने अपने एक छोटे-से कर्त्तव्य (प्रातः-जागरण) पर विचार किया था। उसी प्रकार व्यायाम, युक्ताहार, सन्ध्या, यज्ञ, स्वाध्याय आदि हमारे बहुत-से कर्त्तव्य हैं जिन्हें कि विना पालन किये हमारा कल्याण नहीं हो सकता। हमें अपनी अवस्था और समय के अनुसार अपने कर्त्तव्यों का निश्चय करना चाहिये और फिर उनपर दृढ़ होना चाहिये। इन अपने कर्त्तव्यों, अपने धर्मों का सेवन करने से ही एक आर्य 'आर्य' है; एक मनुष्य-शरीरधारी 'मनुष्य' हो सकता है, क्योंकि एकमात्र इन्हीं धर्मों के अनुसार चलते हुए ही हम अपने उद्देश्य को प्राप्त कर सकते हैं और सर्व प्रकार की वास्तविक समृद्धि प्राप्त कर सफल जीवन हो सकते हैं।

इसलिए हम इस अति महत्व की बात पर विचार करेंगे कि हम अपने धर्म पर दृढ़ कैसे रहें? अपने धर्म से हमें विचलित करानेवाली कौन-सी चीज है जिसे जान लेने पर हम सहजतया धर्मसेवी बन सकते हैं? किस एक शत्रु पर विजय पा लेने से हमें कर्त्तव्य से विचलित होने का डर नहीं रहेगा? आशा है कि हम इस चौथे उपदेश को ग्रहण करने के लिए सर्वथा उद्यत होगें।

यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय का यह प्रसिद्ध वाक्य है—

"हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्याऽपिहितं मुखम्।"

"चमकते हुए सोने के ढकने से सत्य का मुँह ढका हुआ है।" जो मनुष्य इस सचाई को हृदयंगम कर लेते हैं, वे सदा सन्मार्ग को ही चुनते हैं, यह एक ऐसा सत्य है जो सर्वजगत् में फैला हुआ है। सब जगह सचाई चमकीले ढकने से ढकी हुई है। इसलिए मनुष्य उस चमक में फँस जाता है, किन्तु उसे अलग करके सत्य तक नहीं पहुँच सकता। संसार में सब कहीं यही आकर्षण व चमक है जो कि हमें फँसाती है, हमें प्रलोभित करती है। ये इन्द्रियों के सुख हैं, भोग हैं, आराम हैं, धन-दौलत है, यश है। परन्तु मनुष्य का असली मार्ग इनसे बच करके जाता है। कठोपनिषद् में यह वर्णन है कि नचिकेता नामक जिज्ञासु मृत्यु के पास गया। मृत्यु के कहे तीन वरों में से उसने दो वर माँगे जो उसे आसानी से मिल गये। फिर तीसरा वर उसने यह माँगा कि 'मुझे बताओ कि मरकर जीव का क्या

होता है अथवा आत्मा है या नहीं?' परन्तु मृत्यु ने उससे कहा कि 'इस विषय में बड़े-बड़े देव भी संशयित होते हैं, यह गम्भीर बात है, इसे मत पूछ!' नचिकेता ने आग्रह किया। मृत्यु ने तब कहा कि 'तू हाथी, घोड़े, रथ, दिव्य स्त्रियाँ, दीर्घ-जीवन, राज्य, जो चाहे ले ले, मैं तुरन्त दे दूँगा, पर इस प्रश्न को मत पूछ!' परन्तु धीर नचिकेता ने देखा कि भोगों से तो केवल इन्द्रियों का तेज जीर्ण होता है, दीर्घायु भी मैं ऐसी संशयित अवस्था में लेकर अधिक दुःखी ही होऊँगा, मुझे तो वह अवस्था चाहिए जो मरण-रहित है। अन्त में मृत्यु को उसे उसका वर देना पड़ा। तब उसने कहा कि दुनिया में दो मार्ग है एक श्रेय मार्ग और एक प्रेय मार्ग। एक वह मार्ग है जो हमारे कल्याण का मार्ग है और एक वह मार्ग है जो हमें सुन्दर और प्रिय प्रतीत होता है। ये दोनों मार्ग सभी मनुष्यों के सामने आते हैं। अविवेकी पुरुष इनमें से खिंचावट के मार्ग में चला जाता है, परन्तु कठिन मार्ग को चुनता है। जो विवेकपूर्वक इस कल्याण के, परन्तु धीर पुरुष विवेक पूर्वक इस कल्याण के परन्तु कठिन मार्ग को चुनता है। जो मनुष्य प्रलोभन के आने पर उसमें नहीं फँसता, वही धीर है। यह अवस्था हरएक मनुष्य के सन्मुख प्रतिदिन आया करती है। एक तरफ आनन्द होता है, एक तरफ कठिनता; एक तरफ प्रलोभन होता है, एक तरफ अपना कर्त्तव्य। उस समय वे ही मनुष्य सन्मार्ग को ग्रहण कर सकते हैं जिनके मन ने बार-बार मनन करके इस वेद के उपदेश को ग्रहण किया है—

"हिर॒ण्मयेन॒ पात्रेण स॒त्यस्यापिहि॒तं मुखम्।"

संसार में सब जगह यह धोखा भरा हुआ है। सत्य आड़ में छिपा बैठा है। जो इस धोखे में नहीं आते वे ही धन्य हैं। परन्तु क्या हममें से अधिकांश ऐसे नहीं हैं जो इन्द्रियों की खिंचावट में फँस जाते हैं, और संयम के श्रेष्ठ मार्ग को छोड़ देते हैं? भोग में फँस जाते हैं,ब्रह्मचर्य को छोड़ देते हैं? धन में फँस जाते हैं, धर्म को छोड़ देते हैं? जो इन छोटे प्रलोभनों को जीत भी लेते हैं, वे फिर मान में फँस जाते हैं और सत्य को छोड़ देते हैं। यह इसलिए कि हमने इस वेदोपदेश को ग्रहण करके विवेक की आदत नहीं बनाई है। हरेक आर्यसमाज के सभ्य को अपने आर्य कर्त्तव्य का पालन करने के लिए यह ज्ञान ग्रहण करना चाहिये। यदि हमने अपने जीवन पर विचार करने का समय बना लिया है तो दिन-भर की ऐसी अवस्थाओं को गिनना चाहिये जब-जब प्रलोभन और कर्त्तव्य का मुक़ाबिला हुआ हो, और सायंकाल के समय यह देखना चाहिये कि मैं कब-कब प्रलोभन में फँसा और क्यों फँसा इत्यादि। और फिर प्रातःकाल परमात्मा से बल माँगकर अगले दिन में प्रविष्ट होना चाहिये और दृढ़ निश्चय करना चाहिये

कि आज सब प्रलोभनों को ज़रूर परास्त करूँगा। इस विधि से धीरे-धीरे आपका वह अभ्यास हो जायेगा; श्रेय और प्रेय दोनों वस्तुओं के आते ही आप शीघ्र ही श्रेय को ग्रहण कर लिया करेंगे। प्रत्येक आर्य को धर्मारूढ़ बनने के लिए यह अभ्यास प्राप्त करना चाहिये।

हमारे आचार्य दयानन्द को पूर्वजन्म से ही यह विवेक-बुद्धि प्राप्त थी। उन्होंने मृत्यु के सवाल को हल करने के लिए घर छोड़ा, जायदाद छोड़ी, गृहस्थ छोड़ा और सत्य की तलाश में जगह-जगह धक्के खाना, जंगलों में काँटों से लोहूलुहान होकर फिरना, नाना कष्ट सहना, इन सबको स्वीकार किया। विद्या प्राप्त करने के बाद भी यदि वे चाहते तो कहीं सुख से बैठ सकते थे, परन्तु वे हिरणमय पात्र की फँसावट से दूर हो चुके थे, इसलिए लोगों के ईट-पत्थर उन्होंने सहे, गालियाँ सही, ज़हर खाना भी सहा, परन्तु सत्यप्रचार को नहीं छोड़ा। एक राजा ने उनसे कहा कि आप मूर्ति-पूजा का खण्डन छोड़ दीजिये और यह सब राज्य आपका ही है। शायद हमें यह बड़ा आसान—सुगम—प्रतीत होता होगा कि वे कह देते "मूर्ति-पूजा अच्छी है।" परन्तु उन्होंने सत्य को देखा हुआ था; वे स्वप्न में भी इस फँसावट में नहीं फँस सकते थे। हममें से कितने होंगे जिन्हें यदि कहा जाय कि तुम्हें हज़ार रुपये देंगे तुम इतना झूठ बोल दो, तो वे झूठ नहीं बोल देंगे? केवल १० रुपये दिये जाने पर भी अपनी मातृ-भूमि तक के विरुद्ध आचरण करनेवाले हममें मिल जायेंगे। ऐसे कितने पुरुष हैं जो केवल सस्ती होने के कारण विदेशी वस्तुएँ ले लेंगे और अपने देश की व्यवसाय-वृद्धि में सहायक होने की परवाह नहीं करेंगे? क्योंकि खद्दर मोटा होता है और अच्छा नहीं लगता, केवल इसीलिए स्वावलम्बी स्वदेशी धर्म को त्याग देंगे। इसी प्रकार हम अपनी थोड़ी-सी सहूलियत के लिए भी अपने कर्त्तव्य और धर्म का बलिदान कर डालते हैं। यह हमारी कितनी गिरी हुई अवस्था है! हमे वेद की शरण जाकर हिरण्य की चमक से बचना चाहिये, तभी कल्याण होगा। क्या यह वेदोपदेश हमें उठाकर सच्चा आर्य नहीं बना सकेगा?

ऋषि दयानन्द का इस संसार में आकर जो महान् कार्य हुआ है उसे एक शब्द में यों कह सकते हैं कि उन्होंने प्रेय-मार्ग में बहे जाते हुए लोगों को खड़े होकर श्रेय-मार्ग का अवलम्बन करना बतलाया। जब वे उत्पन्न हुए उस समय इस देश में पश्चिमी सभ्यता ज़ोरों पर बह रही थी। सभी लोग उसकी चमक-दमक में फँसकर बहे जा रहे थे। इस देश की पुरानी तपोमय वैदिक सभ्यता नष्टप्राय थी। तब ऋषि ने आकर अपने ब्रह्मचर्य के तप से इस लहर को रोका। यह कितना कठिन काम था! यह ब्रह्मचारी ही कर सकता था। जब संसार की आँखें खुलेंगी तब दुनिया यह समझेगी कि हम दयानन्द के कितने ऋणी हैं। पश्चिमी सभ्यता का सारांश 'भोग-

विलास', और हमारी सभ्यता 'संयम और सरलता' है। इसीलिए आर्यसमाज का उद्देश्य संसार को प्रेय-मार्ग से हटाकर श्रेय-मार्ग पर लाना ही है। परन्तु यदि आर्य लोग भी सत्य को छोड़ चमक-दमक में फँसनेवाले हों तो कितने दुःख की बात है! आज हमें दयानन्द का स्मरण करके अपने में यह व्रत लेना चाहिए कि हम श्रेय-मार्ग पर ही चलेंगे, इसमें चाहे कितने दुःख क्यों न हों। तभी हम अपना कल्याण कर सकेंगे और आर्यसमाज द्वारा जगत् का कल्याण भी तभी कर सकेंगे।

निस्संदेह संसार में धोखा है, परन्तु इससे बचने की कुंजी यही है— **''हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्याऽपिहितं मुखम्।''** प्रायः संसार में जितनी कल्याण की चीजें हैं वे बुरी मालूम होती हैं और नाशकारी वस्तुएँ सुन्दर और प्रिय दिखाई देती हैं। परन्तु, कड़वी ओषधि ही हितकारी होती है और जिह्वा को आनन्द देनेवाले भोजन स्वास्थ्य का नाश करते हैं। साँप-जैसे सुन्दर चमकते प्राणी के अन्दर ज़हर की थैली रक्खी होती है और फूलों में काँटें होते हैं, यह बात हमें याद रखनी चाहिये। भोग अन्त में विष की तरह घातक होते हैं, यह ज्ञान आज से ही हरएक आर्य को ग्रहण कर लेना चाहिए। आराम ज़रूर प्रिय मालूम होता है, परन्तु फल हमेशा परिश्रम करने से ही प्राप्त होता है। संयम के कठोर छिलके के अन्दर ही हमारे लिए अमृतमय फल रक्खा हुआ है। जो हमारे हितकारी मनुष्य हैं वे आकर्षक नहीं हैं, उनकी नसीहतें हमें कड़वी मालूम होती होंगी, परन्तु हितकर वही हैं। इसके विपरीत ठग लोग बड़े रोचक होते हैं, मधुर वाणी बोलते हैं, पर वे हमारा सब धन हर लेते हैं। इस प्रकार कई प्रकार से यह जगत् प्रलोभक है, हमें सन्मार्ग से हटाने के लिए इसमें बहुत-से फाँस हैं, हमें इसी वेद-वाक्य का अवलम्बन कर इस संसार से तरना है। प्रलोभन को छोड़ते हुए कर्त्तव्य पर ही लगन लगाये रखनी है। हमारी बुद्धि ही ऐसी हो जानी चाहिए कि हमें अकर्त्तव्य कभी प्रलोभित न कर सके, बल्कि जितनी प्रीति अविवेकी पुरुष की खिंचावट के अन्दर होती है उससे भी अधिक आसक्ति हमारी कर्त्तव्य में—धर्म में—हो जाय। तब हम इस सौन्दर्य को देख सकेंगे कि किस प्रकार हमारा परम कल्याणकारी करुणासागर भगवान् हमें बिल्कुल प्रलोभित न करता हुआ छिपा हुआ बैठा है, मानो वह है ही नहीं; किन्तु यह प्रकृति चमक-दमककर हमारी आँखों में इतनी तीव्रता से प्रविष्ट हो रही है कि मानो यही सब- कुछ है, और कुछ है ही नहीं। इस वेद-वाक्य का अन्तिम अर्थ इस प्रकृति के ढकने को हटाकर अन्दर छिपे हुए सत्यस्वरूप परमात्मा को प्राप्त करने से है। भगवान् ही हमें ऐसा बल दें कि हम इस ढक्कन को हटाकर उसके सत्यस्वरूप को देख सकें।

[५]

वीर्य-रक्षा

ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकाँस्तपसा पिपर्ति।

—अथर्व० ११।५।४

हम अब प्रलोभन को जीतना सीख चुके हैं। इसके कारण हमें बहुत बल प्राप्त होगा। आइये, इस नये बल को प्राप्त करके अबकी बार ब्रह्मचर्य के महान् गुण को अपने में धारण करने का यत्न करें। ऋषि दयानन्द के जीवन से हमें ब्रह्मचर्य की ही सबसे बड़ी शिक्षा मिलती है। ऋषि दयानन्द में ब्रह्मचर्य की महिमा ऐसी प्रकट हुई है कि उनकी ब्रह्मचर्य-शक्ति ही उन्हें और अन्य सब सुधारकों से जुदा करती है। ब्रह्मचर्य का अर्थ है वीर्य-रक्षा। ब्रह्मचर्य का असली अर्थ इससे अधिक विस्तृत है, परन्तु हम अभी इसका वीर्य-रक्षा, ऐसा ही मुख्य अर्थ लेकर आगे चलेंगे। वीर्यरक्षण करना ही काफ़ी कठिन काम है, परन्तु इसका महत्व और लाभ भी उतना ही अधिक है, वीर्य वह वस्तु है जो कि सम्पूर्ण शरीर का सारांश है, तेजस्सार है। वीर्य के एक कण में बहुत-से जीवनों को उत्पन्न करने की शक्ति है। तब आप कल्पना कर सकते हैं कि वीर्य कितना जीवन का भंडार है। यदि यह शरीर में रक्षित किया जावे तो हममें कितनी जीवन-शक्ति संचित हो सकती है! स्वामी दयानन्द ने जगत् में आकर जो इतना महान् कार्य किया, भारी अज्ञान को हटाया, बहुत-से जीवनों को पलटा, सत्य का डंका बजाया, और अपने ज़माने को ही बदल दिया, इनका यदि कोई भौतिक कारण ढूँढा जाय तो वह उनके शरीर में रक्षित किया हुआ वीर्य था। क्या हम आर्यसमाजियों को यह इच्छा नहीं पैदा होती कि हम भी वीर्य-रक्षा करें? नष्ट होती हुई इस इतनी ईश्वर-प्रदत्त शक्ति को रक्षित करें? जिसको यह इच्छा पैदा होती होगी वह तो अपनी इस वीर्य की अनमोल सम्पति की रक्षा करने के लिए विकट-से-विकट यत्न और सब प्रकार का परिश्रम करने के लिए अवश्य एकदम उद्यत होगा। आप पूछेंगे कि हम वीर्य की रक्षा कैसे करें, यह बड़ा कठिन काम है। बेशक यह कठिन काम है, परन्तु इसके उपाय भी ज़रूर हैं। और जिस सौभाग्यशाली पुरुष को वीर्य-रक्षण की उत्कट इच्छा हुई है वह उन उपायों को जरूर कहीं-न-कहीं से प्राप्त भी कर लेगा। वीर्य-रक्षण की इच्छा रखनेवालों को चिन्ता की कोई ज़रूरत नहीं है, विशेषकर जबकि उसने प्रलोभनों को जीतने का अभ्यास कर लिया

है। वीर्य-रक्षा के लिए आहार, विहार, व्यायाम आदि कैसा होना चाहिए और मनोऽवस्था कैसी रखनी चाहिए, इत्यादि विषय को हम इस लेख में नहीं देख सकेगे। इन बातों के सम्बन्ध में पाठकगण ब्रह्मचर्य विषय पर विस्तृत लिखी हुई पुस्तकों का स्वाध्याय कर के अवश्य लाभ उठावें। परन्तु यहाँ ब्रह्मचर्य के उस एक साधन का हम विचार करेंगे जो कि मेरी समझ में मौलिक साधन है, यह साधन स्वाभाविक है, अतएव प्रबल है। इस साधन के प्राप्त हो जाने पर स्वभावत: वीर्य-रक्षा होती है और अवश्य होती है। मैं यह भी कह देना चाहता हूँ कि इसी साधन से सम्पन्न होने के कारण ही स्वामी दयानन्द अखण्ड ब्रह्मचारी रहे थे। यह साधन एक वाक्य में यह है—वीर्य को किसी शक्ति के रुप में परिणत करना। बिना ऐसा किये वीर्य का सँभालना कठिन है। जब तक हम वीर्य को शक्ति के रूप में नहीं ले आते तब तक वीर्य के नाश होने की पूरी सम्भावना रहती है। इसलिए वीर्य को वीर्य के रुप में न पड़े रखकर उसको शक्ति बना देना ही वीर्य रक्षा का मौलिक उपाय है। वीर्य को शक्ति के रूप में किन उपायों से परिणत करें, यही विचार हम इस महीने के वेद-मन्त्र द्वारा यहाँ पर करेगे। अथर्ववेद में प्रसिद्ध ब्रह्मचर्य सूक्त है। उसमें ब्रह्मचर्य के विषय में बडे-बड़े उत्तम उपदेश हैं परन्तु उस सूक्त में से मैं एक मन्त्र के उत्तरार्ध को ही उपस्थित करता हूँ। उससे ही उपदेश ग्रहण करना हमारे लिए बहुत पर्याप्त होगा। वह मन्त्र यह है—

ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकाँस्तपसा पिपर्ति।

इस मन्त्र में कहा है "**ब्रह्मचारी लोकान् पिपर्ति**"—ब्रह्मचारी लोकों को पूर्ण करता है और पालित करता है। कैसे? "**समिधा, मेखलया, श्रमेण, तपसा**"—'समिधा से, मेखला से, श्रम से, तप से—इन चार साधनों से।'

यह चारों वीर्य-रक्षा के भी साधन हैं, क्योकि ये चारों ही वीर्य को शक्ति के रूप में परिणत करने के उपाय हैं। इनमें से पहला उपाय है समिध् का अर्थ है अच्छी प्रकार से दीप्त होना—सं+इन्ध। हवन की लकड़ियों को भी समिध् इसीलिए कहते हैं क्योंकि वे दीप्त होती हैं। आर्यों में पुरानी प्रथा के अनुसार शिष्य गुरु के पास समिधा लेकर जाता था। उसका मतलब यह था कि मानो गुरु अग्निरूप है और शिष्य अपने-आपको समिधा बनाता है और इच्छा करता है कि मुझे आप इसी तरह दीप्त कर दो जैसे कि अग्नि में समिधा डालने से वह समिधा भी अग्निवत् दीप्त हो जाती है। इस प्रकार

से यदि आप विचारेंगे तो आप समझ जायेंगे कि यहाँ पर समिध का अर्थ ''अपने-आपको ज्ञानाग्नि से दीप्त करना'' है। अपने को ज्ञान से दीप्त करने से हमारा वीर्य ज्ञान के बनाने में खर्च होगा और इस प्रकार वीर्य-रक्षा होगी। इस ''समिध्'' की बात को यदि पूरी तरह समझना चाहें तो आप अपने सामने दीपक का दृश्य लाइये। स्वामी रामतीर्थ जी ने अपने प्रसिद्ध ''ब्रह्मचर्य'' के व्याख्यान में यह बड़ी उत्तम उपमा दी है। यह उपमा मुझे तब से याद रहती है। दीपक आपमें से हरएक ने जलते देखा है। उसमें तेल होता है, बत्ती होती है और ऊपर से वह जलता है—प्रकाशित होता है, अर्थात् तेल ऊपर चढ़ कर प्रकाश के रूप में परिणत हो जाता है—प्रकाश बन जाता है। आप समझ गये होंगे कि तेल के स्थान में हमारे शरीर में वीर्य यदि हम अपने-आपको ऊपर से जला दें, अपने-आपको दीप्त कर लें, तो हमारा वीर्य भी ऊपर चढ़कर ज्ञान बनने में खर्च हुआ करेगा। हमारे सिर में पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। वहीं ज्ञान का केन्द्र दिमाग़ है। लोकों के हिसाब से सिर हमारा द्युलोक है। इसी सिर को हमने दीप्त करना है, जलाना है। इसकी दीप्ति ज्ञान से होती है। जब हमारा सिर ज्ञान से जलने लगेगा तब हमारा वीर्य स्वयमेव वहाँ चढ़ेगा और ज्ञानरूप प्रकाश में परिणत हुआ करेगा। इस प्रसंग में पाठक ऊर्ध्वरेता होने का भाव भी समझ गये होंगे। जो योगी-महात्मा होते हैं उनका सिर इसी कारण द्युलोक की तरह देदीप्यमान होता है। वे सिर में प्राण भरकर समाधि करते हैं और ''ऋतम्भरा'' जैसी अत्युच्च ज्ञान-प्रकाश की अवस्था को प्राप्त करते हैं, अतएव उनका सर्ववीर्य ऊर्ध्वगामी होकर ज्ञान-प्रकाश का ईंधन बनता रहता है। हम साधारण पुरुष यदि समाधि नहीं प्राप्त कर सकते तो हमें अन्य प्रकार से मस्तिष्क को कार्य देना चाहिए, खूब मनन करना चाहिए, गम्भीर विचार करना चाहिए, मस्तिष्क से खूब काम लेना चाहिए, इस प्रकार से हमारा वीर्य भी बहुत-कुछ ज्ञानाग्नि का ईंधन बन सकता है और वीर्य-रक्षा हो सकती है।

हमें यह याद रखना चाहिए कि हरएक वस्तु की तरह वीर्य की भी दो गति हो सकती हैं, एक ऊर्ध्वगति और दूसरी अधोगति। जो लेग वीर्य-जैसी परम पवित्र और जीवन-भंडार वस्तु की अधोगति करते हैं उनकी अधोगति ही होती है; और जो मनुष्य अपने अन्दर इसकी ऊर्ध्वगति करते हैं वे स्वभावत: ऊर्ध्वगति, उन्नति को प्राप्त होते जाते हैं; जितनी मात्रा में ऊर्ध्वगति करते हैं उतनी ही मात्रा में उन्नति को प्राप्त होते हैं। अत: अपने

को ज्ञान से दीप्त कर पूरे यत्न से जहाँ तक हो सके वहाँ तक हमें वीर्य की ऊर्ध्वगति ही प्राप्त करनी चाहिए। इस प्रकार 'समिधा' द्वारा हम मूलतया वीर्यरक्षा करते हैं। यह पहला उपाय हमें वेद ने दर्शाया है।

दूसरा उपाय है मेखला। मेखला को हिन्दी में तडागी या तगडी कहते हैं। स्मृति-ग्रन्थों के अनुसार ब्रह्मचारी के लिए कटिप्रदेश में मेखला बाँधने का विधान है। इसका वास्तविक प्रयोजन क्या है—यह मैं ठीक नहीं जानता। ऐसा सुना जाता है कि यह वीर्य-रक्षा में सहायक होती है, और कई अण्डकोषों के रोगों के लिए रक्षक का काम देती है। परन्तु इससे एक और भाव समझ में आता है, यह है कटिबद्धता का भाव। ब्रह्मचारी को कटिबद्ध रहना चाहिए, हमेशा तैयार—हमेशा चुस्त रहना चाहिए, न जाने कर्त्तव्य किस समय क्या आज्ञा देवे। जिस प्रकार युद्ध का सिपाही हमेशा चुस्त और चौकन्ना रहता है कि न जाने अभी क्या करना पड़े, उसी तरह ब्रह्मचारी को सदा कर्त्तव्य के लिए तैयार, कमर कसे हुए रहना चाहिए। उसे हमेशा जागृत रहना चाहिए, सोते हुए भी जागृत रहना चाहिए, कभीभी प्रमादी—आलस्ययुक्त नहीं रहना चाहिए। कटिबद्धता से उल्टा है आलस्य, ढीलापन। जब मनुष्य आलसी होता है, ढीला पड़ा रहता है। तब उसके वीर्यनाश होने की सदा सम्भावना रहती है। सोते हुए का ही वीर्यनाश होता है। इससे विपरीत जब मनुष्य सदा कर्त्तव्योन्मुख होकर चुस्त रहता है, तब इस कार्य में जो शक्ति खर्च होती है उसे शरीरस्थ वीर्य पूरा करता है, अर्थात् वीर्य इस शक्ति में परिणत होता रहता है। यह वीर्य-रक्षा का दूसरा साधन है। वीर्य को शक्ति में परिणत करने का प्रारम्भ में विवेचन अच्छी तरह हो चुका है। इसलिए अब उसकी विस्तृत व्याख्या की ज़रूरत नहीं।

तीसरा साधन है श्रम, परिश्रम, मेहनत। यह साफ़ बात है कि श्रम करने से वीर्य-रक्षा होती है और श्रम से विपरीत आराम-तलबी से—आराम की इच्छा से वीर्यनाश होता है। अतः ब्रह्मचर्य की इच्छा करनेवालों को सदा श्रम करना चाहिए। शारीरिक श्रम, व्यायाम से वीर्य रुधिर में सम्मिश्रित होता है। एवं अन्य मेहनत के कार्य करने से भी वीर्य शक्ति के रूप में खर्च होता है। अतः हमें श्रम के जीवन को बड़ी खुशी से अपनाना चाहिए।

इसके बाद चौथा साधन तप का आता है। यह एक प्रकार से सबसे मुख्य है। ब्रह्मचर्य सूक्त में तप का बार-बार वर्णन आता है। द्वन्द्वों के सहने को तप कहते हैं। अपने कर्त्तव्य-मार्ग में जो कष्ट आवें उन्हें सहना तप

है। यह ब्रह्मचारी को निरन्तर करना चाहिए। गर्मी-सर्दी सहने का, भूख-प्यास सहने का उसे अभ्यास होना चाहिए। इसी प्रकार और नाना तरह के द्वन्द्व हैं जिन्हें कि मनुष्य जितना सहनेवाला होगा उतना ही वह वीर्यरक्षक होगा। उदाहरणार्थ हम शीतोष्ण को सहें, शीत को कपड़े द्वारा सहना छोड़कर धीरे-धीरे यह अभ्यास करें कि अपने वीर्य से बननेवाली शरीरस्थ सहन-शक्ति के द्वारा ही शीत को सह सकें, और गर्मी को भी बाह्य उपकरणों से न सहकर इसी सहन-शक्ति से सहने का अभ्यास करें तो हमारी वीर्यरक्षा होगी। वीर्य का इस प्रकार बहुत उत्तम सद्व्यय होगा। आशा है पाठकगण यहाँ तक के विवेचन से इन चारों उपायों का वीर्य-रक्षा में साधनत्व भली प्रकार से समझ गये होंगे।

शायद कोई पूछे कि हम तप, श्रम आदि कठिन साधनों से ही वीर्य-रक्षा क्यों करें? मैं इस प्रश्न का अर्थ समझता हूँ। यह प्रश्न ठीक है। बिना किसी लक्ष्य के वीर्य-रक्षा भी नहीं की जा सकती। जिसके सामने कोई लक्ष्य नहीं है वह किस लिए ब्रह्मचर्य करे? अतः सबसे बड़ी बात तो यह है कि हमारा कुछ लक्ष्य होना चाहिए। इस मन्त्र में यह लक्ष्य 'लोकों का पालन-पूरण' कहा है। असल में प्रत्येक मनुष्य का लक्ष्य अपने लोकों को पूर्ण करना और लोकसंग्रह करना ही है, जिसके लिए उसे ब्रह्मचर्य करना चाहिए। परन्तु सामान्यतया कुछ-न-कुछ लक्ष्य होना भी पर्याप्त है। जिसने अपने जीवन का कुछ थोड़ा-सा भी लक्ष्य बना रक्खा है, वह उसी लक्ष्य के लिए ज्ञान-दीप्ति प्राप्त करेगा, उसके लिए सदा कटिबद्ध रहेगा, सदा श्रम करेगा और तप करेगा, अतः वीर्य-रक्षा को भी प्राप्त करेगा। जिसका जितना भारी लक्ष्य होगा उसके लिए वीर्य-रक्षा करना उतना ही आसान होगा। ऋषि दयानन्द तो एक महान् लक्ष्य लेकर दुनिया में प्रविष्ट हुए थे। वे वस्तुतः लोगों का पालन और पूरण करने के ही लिए जन्मे थे। उन्हें विषयों की तरफ़ देखने के लिए भी फ़ुरसत कहाँ थी? इसलिए उन्होंने अपने को ज्ञान से संदीप्त किया और आयुभर कर्त्तव्य के लिए कटिबद्ध रहे। वे जीवन-भर श्रम करते रहे और उन्होंने बालकपन से जितना तप व कष्ट सहन किया उतना दुनिया में विरले लोग ही करते हैं। इसीलिए वे अखण्ड ब्रह्मचारी रहे।

आप पूछेंगे कि हम क्या करें? हम तो दयानन्द-जैसे महापुरुष नहीं हैं, हम तो दुनिया में कोई सन्देश लेकर नहीं आये। मैं कहूँगा कि आप दयानन्द के शिष्य हैं, यही पर्याप्त है। हरएक आर्यसमाजी यह गर्व कर

सकता है कि मैं आदित्य ब्रह्मचारी दयानन्दजी का शिष्य हूँ। दयानन्द हमारे लिए अखण्ड ब्रंह्मचारी रहे। आर्यसमाज ही उनका पुत्र कहा जा सकता है। यदि हम अपने को दयानन्द का पुत्र न मानकर केवल अपने को दयानन्द का अनुयायी मानें, तो भी हम भारी ऋषि-ऋण का बोझ अपने कन्धों पर अनुभव करेंगे। क्या इस ऋण से मुक्त होना हमारा कर्त्तव्य नहीं है? क्या यह छोटा लक्ष्य है? क्या इसके लिए ब्रह्मचर्य की ज़रूरत नहीं है? आपमें से बहुत-से सज्जन प्राय: गृहस्थ-आश्रम में होंगे, इसलिए वैदिक रीति के अनुसार सन्तान उत्पन्न करना बेशक आपका कर्त्तव्य है, परन्तु इस पितृ-ऋण को उतारने के अतिरिक्त और किसी कार्य में अपने वीर्य का व्यय करना अपने गुरु को कलंकित करना है। आपको ऋषि-ऋण उतारने के लिए गृहस्थ-धर्म करते हुए भी ब्रह्मचारी रहना चाहिए। क्या आप प्रण करेंगे कि हम दयानन्द के अनुयायी ऋतुगामी होने के सिवाय सदा वैदिक धर्म के लिए ब्रह्मचारी रहेंगे? आइये, आज हम ऋषि दयानन्द की ब्रह्मचर्यमयी दमकती हुई गुरुमूर्ति को अपने-अपने मन में अच्छी तरह से बिठलाकर उसके सामने प्रतिज्ञा करें कि ''मैं आपका शिष्य ब्रह्मचारी रहूँगा।'' उनकी ब्रह्मचर्यमयी मानस मूर्ति का बार-बार ध्यान करके इसे अपने में यहाँ तक समा दें कि जब कभी हमारे सामने इस प्रतिज्ञा के तोड़ने का प्रलोभन आवे, पाशविक भोग में फँसने का जोरदार प्रलोभन आवे, तो उससे भी सहस्र गुणा तीव्रता से हमारे सामने हमारे गुरु की यह मूर्ति आ खड़ी हो और वह आकर हमको मना करे, उनकी मन्यु से भरी हुई आँखें हमारी तरफ़ घूरती हुई हमें दिखाई दें और हमें यह गम्भीर आवाज़ सुनाई दे कि इस वीर्य पर तुम्हारा अधिकार नहीं है, इस पर वैदिक धर्म का अधिकार है। इसलिए मैं कहता हूँ कि यदि आप दयानन्द नहीं हैं तो ब्रह्मचारी दयानन्द के शिष्य तो हैं! वैदिक धर्म के पुन: संस्थापक गुरु के अनुयायी तो हैं! यह अनुभव आपको ऐसी स्फूर्ति देगा जिससे कि आपको वीर्य-रक्षा करना बहुत आसान हो जाएगा और वीर्यनाश करना असम्भव हो जाएगा।

यदि आर्यसमाज के सभासद् पितृ-ऋण के उतारने के कर्त्तव्य को छोड़कर सदा ब्रह्मचारी रहें तो आर्यसमाज में जो आज शक्ति है उससे हज़ार गुणा शक्ति इसमें आ जाएगी। इस बात में मुझे तनिक भी सन्देह नहीं है।

ब्रह्मचर्य के दीवानों के प्रति

जो मनुष्य कभी ब्रह्मचर्य के पीछे दीवाना नहीं हुआ है, उसने मेरी

समझ में, ब्रह्मचर्य को पूर्ण रूप में अच्छी तरह देखा या समझा नहीं है। ब्रह्मचर्य ऐसी ही मनमोहिनी वस्तु है। फिर भी दुनिया में आज ब्रह्मचर्य के दीवाने बहुत थोड़े हैं। भोगवाद का शिकार वह वर्तमान जगत् यद्यपि कभी-न-कभी कुछ-न-कुछ संयम की, कुछ-न-कुछ ब्रह्मचर्य की ज़रूरत समझता है, उसके लिए कुछ यत्न भी करता है, परन्तु वह असल में भोग से इतना जर्जरित हो चुका है कि उसमें ब्रह्मचर्य की जाज्वल्यमान विभूति को, पूर्ण ब्रह्मचर्य के सूर्य को, एक आँख देख सकने की भी शक्ति नहीं रही है; तो यदि हम संसार के वर्तमान जीवों के अन्दर ब्रह्मचर्य के 'महाव्रत' के लिए तड़प न देखी जाए तो इसमें क्या आश्चर्य है। किन्तु जगत् में आज ब्रह्मचर्य के दीवाने थोड़े हों या बहुत, पर 'आर्यसमाज' ने तो ब्रह्मचर्य का ही गीत गाना है, संसार को यही सन्देश सुनाना है; वह यही गा सकता है, यही सुना सकता है, कोई सुने या न सुने।

इसका कारण स्पष्ट है। संसार को आज ब्रह्मचर्य की ज़रूरत थी, इसीलिए प्रकृतिमाता ने इस युग में दयानन्द नाम से एक महान् ब्रह्मचारी को जन्म दिया। अत: उस दयानन्द के आर्य-समाज का यदि संसार को कोई संदेश हो सकता है, तो वह एक शब्द में ब्रह्मचर्य ही हो सकता है।

जब मैं गुरुकुल में बालक था तो अपनी श्रेणी के कुछ हम सहाध्यायी आपस में सोचा करते थे कि हम ऋषि दयानन्द की तरह ब्रह्मचारी बनेंगे। यह गुरुकुलीय वायुमंडल का प्रभाव था; पर ब्रह्मचर्य का क्या अर्थ है, तब हम यह न समझते थे। ब्रह्मचर्य कितना कठिन है, यह भी नहीं समझते थे। ज्यों-ज्यों बड़े होते गये, त्यों-त्यो ब्रह्मचर्य की महिमा के साथ-साथ उसकी कठिनता को भी समझते गये। परन्तु महाविद्यालय की ऊँची श्रेणी में पहुँचकर जब मैंने वेद का यह ब्रह्मचर्य-सूक्त पढ़ा और मनन किया तो मेरे ब्रह्मचर्य-सम्बन्धी विचारों में सबसे अधिक क्रान्ति आयी। जिस उदात्त और व्यापक ब्रह्मचर्य का वर्णन मैंने इसमें पाया, उससे मेरी दृष्टि खुल गयी। ब्रह्मचर्य के लक्ष्य को सामने रखकर चलने को एक साफ़ रास्ता मुझे मिल गया। इस सूक्त के अध्ययन से जो सबसे बड़ा प्रभाव मुझपर पड़ा, वह यह था कि दुनिया में मैं जो यह सुनता रहता था कि सर्वथा अखण्ड ब्रह्मचर्य असम्भव है, वह मेरा भ्रम हट गया। मैं तब से न केवल यह देखने लगा कि पूर्ण ब्रह्मचर्य सम्भव है, किन्तु यह भी अनुभव करने लगा कि ब्रह्मचर्य ही स्वाभाविक है, प्राकृतिक है। हम अपनी उच्च प्रकृति से देखें तो यही प्राकृतिक है। मैं यहाँ तक कहने को उद्यत हूँ कि जैसे साधारण

लोग आँख के झपकने को स्वाभाविक समझते हैं, परन्तु आश्चर्य आदि की अवस्था के दृष्टान्त से जान सकते हैं कि एक ऐसी अवस्था भी आती है जबकि एकतत्व के देख लेने से स्वभावत: निमेषोन्मेष बन्द हो जाता है, इसकी आवश्यकता ही नहीं रहती, मनुष्य तब 'अनिमेष' अथवा 'देव' हो जाता है; इसी तरह अपने उच्च स्वरूप को देख लेने पर, पा लेने पर, निर्विकार अवस्था ही स्वाभाविक हो जाती है, विकार का कुछ काम ही नहीं रहता।

आज न जाने छापेखानों में काले किये जानेवाले कागजों में कितना बड़ा भाग ब्रह्मचर्य-घातक पतनकारी साहित्य से भरा होता है, तो शताब्दी पर प्रकाशित होनेवाली वैदिक उपदेश-माला पुस्तक में ब्रह्मचर्य-रक्षा के लिए प्रेरणा हो, पुन:-पुन: प्रेरणा हो तो कौन-सा बिगाड़ हो जायगा, यदि कुछ लाभ न होगा! और यह ब्रह्मचर्य-चर्चा मेरी समझ में कोई नीरस भी नहीं होगी। जब लेखक को उसमें रस आता है, इसीलिये वह चर्चा करता है, तो कोई और भी ऐसे साथी मिलेंगे जिन्हें इसमें रस आयेगा। मैं तो स्वीकार किये लेता हूँ कि मैं ब्रह्मचर्य के पीछे दीवाना हूँ, पागल हूँ पर मैं इसीलिये दीवाना हूँ क्योंकि ब्रह्मचर्य का चमकता हुआ सूर्य मुझे अत्यन्त प्यारा और आकर्षक लगता है, और मैं उससे अपने को बहुत दूर पाता हूँ जब मैं उसके नज़दीक पहुँच जाऊँगा तब मैं शायद ब्रह्मचर्य का दीवाना न रहकर ब्रह्मचर्य का भक्त या उपासक बन जाऊँगा। इसीलिए मुझ द्वारा की गई इस ब्रह्मचर्य-चर्चा में वे ही रस ले सकेंगे जो कि मुझ-जैसे ब्रह्मचर्य-जीवन के पिपासु हैं। अत: स्पष्ट है कि आगे आनेवाले ब्रह्मचर्य-रक्षा-विषयक वचन उन्हीं भाई-बहनों के प्रति हैं जो कि ब्रह्मचर्य के दीवाने हैं, जो कि अखण्ड ब्रह्मचर्य में श्रद्धा रखते हैं, और जो पूर्ण ब्रह्मचर्य में ही अपने आत्मा का चरम विकास अनुभव करते हैं।

[६]

त्याग

कृषन्नित्फाल आशितं कृणोति यन्नध्वानमप वृङ्क्ते चरित्रैः।
वदन्ब्रह्मावदतो वनीयान् पृणन्नापिरपृणन्तमभि ष्यात्॥

—ऋ० १०।११७।७

इस मास मैं अपके सामने त्याग या दान के विषय पर कुछ विचार प्रस्तुत करना चाहता हूँ। दान के विषय में वेद में बहुत जगह बहुत-कुछ लिखा है। पुराने समय से अब तक सब लोग दान और त्याग की महिमा बखानते आये हैं। पर प्रश्न यह है कि हम दान क्यों करें? दान करने से तो हमारी हानि होती है, घटती होती है। मैंने इस महीने वेद से यही उपदेश ग्रहण किया है कि हमें अपनी ही भलाई के लिए त्याग करना आवश्यक है। इसी बात का इस लेख में विस्तारपूर्वक वर्णन करना है। दान के विषय में वेद में वैसे तो और भी बहुत-से उत्तम-उत्तम वचन हैं, परन्तु मैं ऋग्वेद के प्रसिद्ध दान-सूक्त में से केवल एक मंत्रार्थ को ही आपके सामने रखता हूँ—

कृषन्नित्फाल आशितं कृणोति यन्नध्वानमप वृङ्क्ते चरित्रैः।

"खेती करता हुआ ही फाल (हल का अग्रभाग) किसान को भोजन करनेवाला बनाता है और मार्ग पर चलता हुआ मनुष्य अपने चलने द्वारा त्याग करता जाता है।" इस वेद-वचन में 'हमें दान क्यों करना चाहिए' यह बात दो उपमाओं द्वारा समझाई गी है। यदि हम इन उपमाओं के समझ लें तो हम सबदान का माहात्म्य समझ लेंगे। पहले कहा है कि हल से यदि कर्षण किया जाता रहे तो वह अधिक कृषि के योग्य हो जाता है और मालिक का पेट भरता है। इसके विपरीत, यदि वह पड़ा रहे तो जंग लगकर वह भूमि के विलेखन के योग्य नहीं रहता। इसी प्रकार दान करने से मनुष्य का मनुष्यत्व बढ़ता है, मनुष्य अपने कार्य करने के लिए अधिक योग्य हो जाता है। हल चलने से घिसता है—अपना कुछ अंश त्याग करता है। इसलिए तीक्ष्ण होता है, अर्थात् जिस कार्य के लिए वह बना है उसमें समर्थ रहता है। इसके विपरीत जंग लग जाने से भार में तो वह फाल ज़रूर बढ़ जाता है, परन्तु अपने कार्य में योग्य नहीं रहता, किसान को रोटी देने के अयोग्य हो जाता है। इसी प्रकार मनुष्य दान न देने से बेशक अधिक वस्तुओं वाला होता है, परन्तु उस अधिक सामान का बोझ ही उस कार्य

के योग्य नहीं रहने देता, जिस कार्य के लिए उसे दुनिया में पैदा किया है। उसपर रुपये का जंग लग जाता है, इसलिए वह अपने कर्त्तव्य में तीक्ष्ण नहीं रहता। इस तीक्ष्णता को कायम रखने के लिए त्याग करना परम आवश्यक है।

दूसरा उदाहरण त्याग के विषय को और भी अधिक साफ़ कर देता है। उसमें यह बताया गया है कि मनुष्य को चलने के लिए त्याग करना पड़ता है। इस त्याग के कारण ही वह आगे पहुँचता है। जैसे कि मैंने यहाँ से अपने घर जाना है तो मैं एक कदम आगे रक्खूँगा। इससे मुझे एक कदम आगे का स्थान प्राप्त हो जायगा। परन्तु यदि मैं यह कहूँ कि यह तो मेरा स्थान हो गया है, इसे मैं नहीं छोड़ूँगा, तो मैं दूसरा कदम नहीं बढ़ा सकता और कभी भी अपने घर पर, लक्ष्य पर, नहीं पहुँच सकता। अगला क़दम बढ़ाने के लिए पिछले क़दम से प्राप्त हुए स्थान को छोड़ना ज़रूरी है। इसलिए वेद ने कहा है कि मार्ग पर चलता हुआ मनुष्य त्याग करता जाता है। जब हम अपनी उन्नति की एक अवस्था को पहुँच जाते हैं, तब उससे अगली ऊँची अवस्था में पहुँचने के लिए पहली अवस्था की सब कमाई को स्वाहा कर देना पड़ता है, हवन कर देना पड़ता है। हवन उस त्याग का नाम है जो कि हमें उससे श्रेष्ठ वस्तु बदले में देता है। हवन शब्द (हु दानादानयो आदाने च) इस धातु से बना है, इसके अर्थ में दान और आदान (देना और लेना) ये दो विरोधी बातें दीखती हैं, परन्तु सार्थक हैं। इसका अर्थ होता है "दान करना आदान के लिए"। जब हम किसी वस्तु का त्याग करते हैं इसलिए कि उससे अधिक उत्तम वस्तु हमें मिले, तब हवन करते हैं। अर्थशास्त्र की भाषा में इसे कहें तो 'बिना दाम कोई वस्तु नहीं मिलती।' दाम देने में त्याग करना होता है, इसलिए इसका शुद्ध रूप यह है कि बिना त्याग के कोई वस्तु नहीं मिल सकती। असल में मनुष्य ने पिछली कमाई को स्वाहा करते हुए और इस प्रकार हवन के क़दमों से चलते हुए ही अपने लक्ष्य पर पहुँचना है।

आप इन उपमाओं को खूब सोंचे।आप इन्हें जितना सोचेंगे उतनी ही दान की आवश्यकता आपमें जागृत होगी। आप धीरे-धीरे त्याग करने के लिए आतुर होने लगेंगे। जब मनुष्य दान देता है, त्याग करता है, तभी नई-नई वस्तु के आगमन को प्राप्त करता है। जैसे कि यदि एक जल-प्रवाह को रोका जावे तो वहाँ जल का आगमन भी मन्द पड़ जावेगा। अथवा ऐसे समझिये कि एक बालक के पास पानी से भरा कटोरा है और वह

माता से दूध लेना चाहता है। यदि वह यह चाहे कि मैं पानी का भी त्याग न करूँ, तो वह दूध किस जगह लेगा? उसे उत्तम चीज़ को पाने के लिए पहली चीज़ का त्याग करके जगह बनानी चाहिए। मनुष्य शरीर में से कुछ त्याग करता है, तब वह नया भोजन ग्रहण करने के योग्य होता है। हम श्वास बाहर छोड़ते हैं, तब अन्दर श्वास ले सकते हैं। क्या हम जीवित रह सकते हैं यदि हम अन्दर ही श्वास लेते जावें और बाहर न छोड़ें? बल्कि हम देखेंगे कि जितनी अच्छी तरह से हम बाहर श्वास छोड़ें, उतना ही अधिक श्वास हमारे अन्दर प्रविष्ट होगा। उपवास-शास्त्रज्ञ कहते हैं कि उपवास के दिनों में हमारा शरीर प्रतिदिन जितना घटता है, उसके बाद भोजन शुरू करने पर उससे चार गुणा अधिक वेग से हमारा शरीर प्रतिदिन बढ़ता है, क्योंकि उस त्याग की क्रिया से शरीर शुद्ध होता है और शुद्ध शरीर में ग्रहण करने की शक्ति बढ़ जाती है। इसलिए त्याग करना घाटे का सौदा तो कभी नहीं है, अपितु जीवित रहने तक के लिए त्याग ज़रूरी है। उच्च सम्पत्ति प्राप्त करने का उपाय ही दान है। जो मनुष्य दान न देकर अपनी सम्पत्ति बढ़ाता है, वह यह भारी भूल कर रहा होता है कि जो धन उसके लिए नहीं है उसे फ़िजूल अपने पास रखता है। वह अपनी अस्वस्थ वृद्धि करता है। इसका परिणाम यह होता है कि चोरी, आग लग जाना, बैंक टूट जाना आदि सैकड़ों तरीकों से उससे धन छीन लिया जाता है। क्योंकि, ईश्वरीय नियमों के अनुसार वही हमारे पास रह सकता है जोकि हमारे भले के लिए है। यदि हम इसे स्वयं खुशी से त्याग नहीं देते तो वह हमसे छीन लिया जाता है।

हमारी और पाश्चात्यों की सभ्यता में यही एक भारी भेद है। पश्चिम में जब तक ग़रीब लोग तंग आकर अमीरों को लूट नहीं लेते तब तक ग़रीबों का अधिकार स्वीकृत नहीं किया जाता, परन्तु भारतीय सभ्यता में स्वयमेव दान देना हरएक का आवश्यक कर्त्तव्य रक्खा गया है। हमारे पाँच महायज्ञ और क्या हैं? ये सब बिना माँगे देना है। उदाहरणार्थ, अतिथियों को खिलाये बिना न खाना अतिथियज्ञ है। भारत के इतिहास में ऐसी बहुत-सी बातें प्रसिद्ध हैं जबकि गृहस्थी कई दिनों तक स्वयं भूखे रहे, परन्तु आए हुए अतिथियों को अपना सब-कुछ दे दिया। इसी कारण उस समय के समाज में शान्ति थी। हर आदमी अपने में पूर्ण नहीं होता। बिना दूसरे से लेना-देना किये समाज नहीं चल सकता, इसलिए उस समय हर मनुष्य के लिए दान करना कर्त्तव्य रक्खा जाता था और इसीलिए दूसरों

के छीनने का अधिकार कभी भी स्वीकार करने की उस समय ज़रूरत नहीं थी। Socialism और Bolshevism आदि कुछ नहीं कर सकते जब तक कि समाज में दान-भाव न भरा जाए। इस दान-भाव के बढ़ाने का तरीक़ा है "रुपये की क़दर को घटाना"। रुपये से सहस्रों गुणा श्रेष्ठ धन है 'ज्ञान'। उस समय ज्ञानधनी की क़द्र बढ़ाई जाती थी। ब्राह्मण, जिसके पास दूसरे समय का भी भोजन नहीं होता था, वह राजा से बड़ा समझा जाता था। आजकल के बड़े आदमी की पहचान या क़द्र रुपये से है। यदि वह रुपये की ज़रूरत नहीं अनुभव करता तो भी उसे यह धन रखना पड़ता है, क्योंकि आदमी की योग्यता इसी में है कि कौन कितना कमाता है। कौन कितना त्याग करता है, इसकी जगह यह देखा जाता है कि कौन कितना अधिक वेतन पाता है। जब इस प्रकार ज्ञानियों को भी धन का बटोरना ज़रूरी हो, तब बेचारे वैश्यों और शूद्रों के लिए क्या बचे? बस, इसीलिए झगड़ा है। यदि ब्राह्मण 'अपरिग्रह' को धारण करें और उनकी पूजा ज्ञान के कारण हो, और क्षत्रिय की पूजा उसकी शूरवीरता, बल और साहस के कारण हो, तो वह धन स्वयमेव ही जो उसके अधिकारी हैं उन्हीं वैश्यों और शूद्रों के पास पहुँच जाए। पर यह तभी हो सकता है जब समाज में त्याग को महत्त्व दिया जाए। हरएक गृहस्थी पंचमहायज्ञ अर्थात् नाना प्रकार से दान देना, अपना कर्त्तव्य समझकर प्रतिदिन करे। ऐसी सभ्यता का आश्रय करने से ही समाज में शान्ति रह सकती है।

कुछ मास हुए Modern Review नामक पत्रिका में एक टिप्पणी लिखी गई थी जिसका शीर्षक था "The Savage" अर्थात् "जंगली"। इसमें एक दर्शक ने अफ्रीका की एक जंगली जाति (जो कि इतनी असभ्य है कि कपड़े पहनना भी नहीं जानती) के एक परिवार का आँखों-देखा वर्णन किया था। उस जंगली को दो दिन तक भोजन नहीं मिल सका था, इसलिए उसकी स्त्री और बच्चे बड़े कृश, हीन और आतुर थे। तीसरे दिन कहीं वह जंगली शिकार प्राप्त कर सका। उसे पकाना शुरू किया गया। भूखे बच्चे अधपके को ही खाने को व्याकुल हो रहे थे, परन्तु माता-पिता ने बड़े यत्न से उसे बचाए रक्खा। जब भोजन पक गया तब उसे हाथ में लेकर वह जंगली अपनी झोंपड़ी से बाहर निकला और बाहर खड़े होकर बड़ी जोर से चिल्लाया कि "क्या कोई भूखा है? वह भोजन कर लेवे।" फिर दूसरी दिशा में खड़े होकर चिल्लाया कि "यदि किसी को भोजन की ज़रूरत हो तो वह हमारे साथ शरीक हो।" इसी प्रकार चार बार चारों

दिशाओं में उसने भोजन खानेवाले को इतनी ज़ोरदार आवाज़ में बुलाया कि मानो उसकी आवाज़ सारे अफ्रीका में गूँज जाएगी। फिर कुछ देर प्रतीक्षा की। जब कहीं से कोई आवाज़ नहीं आई तब कहीं परिवारवालों ने मिलकर तीन दिन के बाद वह भोजन किया। क्या वे असभ्य हैं या हम, जो कि दूसरों के मुख का ग्रास हमेशा छीनने का यत्न करते रहते हैं? चाहे आप सभ्यता किसी चीज़ का नाम रक्खें, परन्तु जिस समाज में हरएक मनुष्य औरों को भूखा न रखकर अन्त में स्वयं खाता है, उसी समाज में सब लोग सुखी रह सकते हैं, और सबको सुख ही चाहिए, फिर चाहे आप उस समाज को सभ्य कहें या असभ्य। इसलिए इसी सूक्त में वेद ने कहा है—

केवलाघो भवति केवलादि।

"अकेला भोजन करनेवाला केवल पाप को ही खाता है।" इसी की प्रतिध्वनि भगवान कृष्ण ने भगवत्गीता में की है—

भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्।

"जो पापी लोग अपने शरीर-पोषण के लिए ही पकाते हैं, वे तो पाप को ही खाते हैं।"

जिस समाज में बिना दूसरे को खिलाए खाना पाप समझा जाए, वहीं स्वाभाविक सुख-शान्ति विराजमान हो सकती है। मनुष्य तो भूखे मरने पर लड़-मरकर भी भोजन छीन सकते हैं इसलिए उनका भय भी हो सकता है, परन्तु बेचारे पशु-पक्षी आदि तो बिल्कुल निःस्सहाय ही होते हैं। वैदिक सभ्यता में प्रतिदिन बलिवैश्वदेव यज्ञ करके उनके भी हिस्से स्वयमेव दे दिये जाते हैं। यही वैदिक सभ्यता में विशेषता है। इसलिए कम-से-कम आर्यसमाज में तो हरएक व्यक्ति को अपना वैयक्तिक लाभ समझते हुए त्याग करना चाहिए और दान को अपना "प्राण" समझना चाहिए। अपने समाज में धन की कद्र हटनी चाहिए और त्याग की कद्र बढ़ानी चाहिए। इस प्रकार यदि हम पहले अपने समाज को सुधारेंगे, अपने समाज को वैदिकधर्मी बनायेंगे, तभी हम सब संसार की समस्याओं को भी अपने वैदिक आचरण द्वारा हल कर सकेंगे।

शायद आप कहेंगे कि त्याग की महिमा सुनकर भी हमें श्रद्धा नहीं जमती, विश्वास नहीं होता कि त्याग करने से अवश्य लाभ होगा। फिर भी मेरी समझ में तो आपको वेद-वचन पर विश्वास रखकर त्याग ही प्रारम्भ करना चाहिए। यह ठीक है कि बिना श्रद्धा के प्रवृत्ति नहीं होती,

परन्तु श्रद्धा भी कुछ–न–कुछ प्रवृत्ति से ही होती है; और यह समझकर कि क्योंकि वेद–त्याग का उपदेश करता है और क्योंकि आचार्य दयानन्द का जीवन भी हमें यही दिखलाता है। आप एक बार त्याग कीजिए, त्याग करने पर आपको जो आनन्द का स्वानुभव होगा उससे त्याग में श्रद्धा भी हो जाएगी। उस श्रद्धावश फिर आप ज्यों–ज्यों अधिक त्याग करेंगे त्यों–त्यों आपकी श्रद्धा बढ़ती जाएगी; और एक दिन ऐसा आएगा जब आप अपना सर्वस्व त्याग करना भी खेल समझेंगे। इसलिए आप खाली बैठकर श्रद्धा की प्रतीक्षा न करें, किन्तु श्रद्धा न जमती हो तो भी त्याग की तरफ कदम बढ़ाइये। कदम बढ़ाने से श्रद्धा भी स्वयमेव जम जाएगी। मुझे यहाँ पर कविसम्राट रवीन्द्रनाथ ठाकुर का एक हृदयग्राही गीत स्मरण आता है। उसका हिन्दी अनुवाद मैं पाठकों को जरुर सुनाना चाहता हूँ। आप इसे जरा ध्यान से पढ़ें—

"मैं गाँव की गली में द्वार–द्वार पर भीखमाँगता हुआ फिरता था, जबकि एक भव्य स्वप्न की तरह तेरा स्वर्णमय रथ दूर से दिखाई पड़ा और मैं विस्मित हो गया कि यह राजाओं का राजा कौन है?

"मेरी आशाएँ ऊँची चढ़ गई और मैंने सोचा कि मेरे बुरे दिनों का अन्त हो गया और मैं इस प्रतीक्षा में खड़ा हो गया कि आज मुझे बिना माँगे भिक्षा मिलेगी और इस धूल पर ही सब तरफ़ से अशर्फियों की वर्षा हो जायगी।"

"वह रथ मेरे पास आकर खड़ा हो गया। तेरी दृष्टि मुझपर पड़ी और तू मुस्कुराहट के साथ नीचे उतरा। मैंने अनुभव किया कि अन्त में मेरा भाग्योदय हो ही गया।

"तब तूने एकदम अपना दायाँ हाथ पसारा और कहा, "तेरे पास मुझे देने के लिए क्या है?"

"आह! यह कैसा राजकीय उपहास था कि भिखारी के आगे अपना हाथ पसारना! मुझे कुछ सूझ न पड़ा और मैं खड़ा रह गया और फिर अपनी झोली में से धीरे–से एक बहुत ही छोटा सा अन्न का कण निकाला और इसे तुझे दे दिया।"

"परन्तु मैं आश्चर्य में डूब गया जबकि मैंने शाम को झोली खाली करने पर यह देखा कि भीख की उस तुच्छ ढेरी में सोने का एक छोटा सा कण है। मैं फूट–फूटकर रोया और पछताया कि हाय! मुझे अपना सर्वस्व तक तुम्हारे लिए दे डालने की हिम्मत क्यों न हुई!"

सब मनुष्य ऐश्वर्य चाहते हैं; और सर्वैश्वर्यवान् परमात्मा से सचमुच हमें सब-कुछ मिल सकता है, परन्तु परमात्मा हमसे सदा यही पूछते रहते हैं कि तुम दान कितना करते हो? और हम जितना थोड़ा सा त्याग करते हैं, हमें पीछे से पता लगता है कि हमारा उतना थोड़ा-सा त्याग सुवर्णमय हो जाता है। तब मनुष्य को त्याग में श्रद्धा होती है। तब वह पछताता है कि कितना अच्छा होता है कि मैं सब-कुछ दे देता! शायद हमें भी कभी ऐसे ही पछताना पड़े। इसलिए आइये, ईश्वर से हिम्मत की याचना कीजिए। वह हमें त्याग करने की हिम्मत देवे। इससे मत घबराइये कि त्याग से आपका नाश होगा। यह कभी नहीं हो सकता। जितना हम त्याग कर सकेंगे, उतना ही उच्च ऐश्वर्य प्राप्त कर सकेंगे। महात्मालोग जो अपना सब-कुछ त्याग देते हैं, उन्हें सब संसार का एश्वर्य मिल जाता है। हमारे आचार्य स्वामी दयानन्द उन्हीं महात्माओं में से थे। वे जिस कुल में उत्पन्न हुए थे वह कुलीन घर था—वह बड़ा प्रतिष्ठित कुल था—उस कुल के पास बड़ी जायदाद थी। उन्होंने इस सब सम्पत्ति और भोग को त्यागा। इसे त्यागकर उन्होंने जो उच्च एश्वर्य प्राप्त किया उसे भी लोकोपकार में ही स्वाहा कर दिया, उससे अपना कुछ भोग सिद्ध न किया। इसलिए वे भगवान् के उन सच्चे पुत्रों में से हुए जो कि अपना सब कुछ त्यागकर, ईश्वर के सब ऐश्वर्य पर अपना स्वत्व प्राप्त करते हैं। हम आर्यसमाजियों को भी चाहिये कि हम इन त्याग की सीढ़ियों पर चढ़ते हुए हवन के कदमों द्वारा उसी स्थान पर पहुँचें जिसे कि हमारे आचार्य ने प्राप्त किया था।

भगवान् दयानन्द हमारे पथ-प्रदर्शक हों!

[७]

देशभक्ति

माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः।

—अथर्व० १२।१।१२

ऋषि दयानन्द के जीवन से और वेद के उपदेश के अनुसार जिस देश-भक्ति के गुण का मैं इस महीने के लिए उल्लेख करना चाहता हूँ, वह ऐसा गुण है जिसकी कि इस देश के (भारतवर्ष के) लोगों में विशेष कमी है। इसलिए जैसे कि प्रत्येक अन्य वैदिक धर्म के अंग में आर्यसामाजिक पुरुषों को अग्रणी होना चाहिये, वैसे ही इस देशभक्ति के आवश्यक गुण के विस्तार में भी आर्यसमाजी भारतवासियों को विशेषतया पथ-प्रदर्शक का काम करना चाहिये। यदि हम इस बात को समझेंगे तो हममें से प्रत्येक व्यक्ति अपने में देशभक्ति का गुण लाने का शीघ्र प्रबल प्रयत्न करेगा।

यह लिखने की जरुरत नहीं है कि क्योंकि अभी तक आर्यसमाज भारत देश तक ही परिमित है और इस देश के सभी लोगों ने अभी तक देशभक्ति को अच्छी तरह नहीं सीखा है। अतः स्वभावतः मैं इस लेख में भारत देश की भक्ति का वर्णन करूँगा। इससे पाठक यही समझें कि मैं यह लेख भारतवासी वैदिकधर्मियों को दृष्टि में रखकर लिख रहा हूँ, यद्यपि सामान्यतया कहा जा सकता है कि अन्य देशों में उत्पन्न होनेवाले वैदिकधर्मियों को भी इन्हीं वैदिक सिद्धान्तों के अनुसार अपनी देशमाता की सेवा करनी चाहिये और इस महान् धर्म का पालन करते हुए सामाजिक सुख-सम्पत्ति बढ़ाकर वैयक्तिक सुख-सम्पत्ति भी पाकर कृत्यकृत्य होना चाहिए।

हममें देशभक्ति की कमी क्यों है? इसका कारण यही समझ में आता है कि हमने अपने हृदय को फैलाया नहीं है, अपनी दृष्टि को विस्तृत नहीं किया है। मैं चाहा करता हूँ कि हरएक भारतवासी अपने विशाल घर को देखे और वहाँ अपनी वेदोक्त माता का दर्शन करे। यदि मैं आपसे आपका घर पूछूँ तो शायद आप अपने छोटे-से चारदीवारी से घिरे हुए घर की तरफ़ इशारा करेंगे और अपने दो-चार भाई-बहिनों की जननी को माता कहकर बतलायेंगे। परन्तु हमें इससे ऊपर उठना है और उठकर जिस अपने विशाल घर की वन्दनीया माता को देखना है वह कुछ और है। इसके लिए अपने

हृदय को दूर तक विस्तृत कीजिए, दिल को खोल दीजिए, यदि आप असली माता को देखना चाहते हैं तो ऐसा ही करना होगा। तब आप देखेंगे कि हमारा विस्तृत घर वह है जो कि कश्मीर से कन्याकुमारी तक और कच्छ से कामरान तक फैला हुआ है, जिसमें कि पञ्जाब, उत्तरप्रदेश, बंगाल, मद्रास आदि प्रान्त ऐसे हैं जैसे कि एक घर के कई कमरे होते हैं। इस घर में दो-चार नहीं, किन्तु ४० करोड़[१] बहिन-भाई बस रहे हैं। क्या आपने अब अपनी माता को देखा? इस ४० करोड़ हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख व ईसाई आदि भाई-बहनों की जननी अपनी वृद्धा माता को पहचाना? यह वह माता है जिसकी सेवा के लिए यदि ज़रूरत हो तो हमें अपनी दो-चार भाई-बहनों की माता को त्याग देना चाहिए और अपने क्षुद्र घर का बलिदान कर देना चाहिए। यह वह माता है जिसे अभी तक न पहचानने और अतएव उसकी सेवा में तत्पर न होने के कारण हम अनगिनत दुःख और विपत्ति उठा रहे हैं और दुनिया में अपना सिर ऊँचा उठाकर नहीं रह रहे हैं, और जिसकी एकमात्र सेवा से ही फिर हमारा उद्धार हो सकता है। यही सेवा किये जाने योग्य और वन्दना किये जाने के योग्य हमारी माता है। ''वन्दे मातरम्'' की पवित्र ध्वनि उठाकर देशभक्त लोग इसी माता को नमस्कार करते हैं। आइये वैदिकधर्मी बन्धुगण! हम इस माता के आगे सिर झुकाएँ और वेद के शब्दों में अनुभव करें—

मा॒ता भूमिः॑ पु॒त्रो॑ऽहं पृ॑थि॒व्याः।

''यह मातृभूमि मेरी माता है और मैं इस विस्तृत पृथिवी का पुत्र हूँ।''

यह अथर्ववेद के प्रसिद्ध पृथिवी-सूक्त का एक वाक्य है, जो कि इतना स्पष्ट है कि एक संस्कृत न जाननेवाला भी इसका अर्थ समझ सकता है। इस सूक्त में मातृभूमि-विषयक बड़ा ज्ञान लिखा हुआ है, परन्तु हम तो यदि केवल इस एक वेदवाक्य को ही अपना लें और इससे यह समझ जावें कि यह भूमि हमारी माता है और हम सब इसके पुत्र हैं तो हम कुछ-के-कुछ बन जाएँ, हरएक भारतवासी को अपना भाई समझने लगें, जैसे अपने माता-पिता, गुरु, परमात्मा आदि के प्रति हमारे कर्त्तव्य हैं वैसे ही इस देश-माता के प्रति भी अपने आवश्यक कर्त्तव्यों को समझने लगें और इसकी सेवा के लिए अपना सब-कुछ अर्पण करने को भी तैयार हो जाएँ। तब हमें समझ में आवे कि तिलक महाराज, महात्मा गाँधी जैसे हमारे दिवंगत भाई किसकी सेवा में अपना जीवन अर्पण कर गये और हमारे

---

१. जनसंख्या की दृष्टि से अब एक अरब के लगभग।

महान् राष्ट्रसेवक वर्त्तमान भाई समय-समय पर किस पवित्र काम के लिए हमें पुकारते रहते हैं।

इस मातृ-सेवा के कार्य में भी सबसे अधिक कर्त्तव्य आर्यसमाज का है, क्योंकि आज से बहुत पहले एक ऋषि ने अपनी इस माता की दुःखावस्था देखी थी और फलतः आर्यसमाज को जन्म दिया था। उसे उस ग़ुलामी के पूरे राज्य के ज़माने में भी अपने चक्रवर्ती राज्य की याद आया करती थी। उसने साक्षात् उस समय देखा था कि माँ के न केवल हाथ बँधे हुए हैं, न केवल उसके मुख में कपड़ा ठूँसा हुआ है, अपितु उसकी छाती पर शत्रु पाँव रक्खे खड़ा है—"यह देश विदेशियों से पादाक्रान्त हो रहा है।" उसने माता के बन्धन छुड़ाने का मौलिक उपाय करने के लिए ही इस संस्था की स्थापना की थी, ऐसा हम आज अच्छी तरह समझ सकते हैं। उनका पूरा उद्देश्य न केवल माता को बन्धन से छुड़ाकर उसे स्वतन्त्र करना था, किन्तु दुनिया में उसकी प्रतिष्ठा स्थापित करना और उसके पास उसके पुराने ऋषि-मुनियों से संचित जो वैदिक धर्म का ख़ज़ाना है उसे दुनिया को देकर शान्ति फैलाना था। पर हमने अब तक क्या किया है? वैदिक धर्मियों के सामने कितना भारी काम है?

अब परमेश्वर की कृपा से तथा ऋषि दयानन्द जैसे भारत-संस्कृति के उद्धारक पुरुषों द्वारा क्षेत्र तैयार किये जाने के फलस्वरूप एवं भारत-माता के सुपुत्र दादाभाई, तिलक, गोखले, दास, मोतीलाल, लाजपतराय, सरदार पटेल आदि नेताओं और अनगिनत अन्य राष्ट्र-सेवकों के बलिदानों से आज हमारी माता बन्धनमुक्त हो तो चुकी, परन्तु अब तो हमारा कार्य और उत्तरदायित्व और भी बढ़ गया है। इस समय माता की सेवा की और भी अधिक आवश्यकता है; त्याग, बलिदान और समर्पण की और भी अधिक माँग है, यद्यपि वह अब भिन्न प्रकार की है। हममें अभी तक अपनी देशमाता के प्रति पर्याप्त जागृति भी नहीं है। कई अन्य छोटे-छोटे देशों के निवासी अपनी देशमाता को जानते हैं, इसीलिए अन्य त्रुटियों के होते हुए भी वे सुखी हैं, समर्थ हैं, देश पर आई कठिनाइयों का सामना अच्छी तरह कर सकते हैं। पर हम इतने महान् देश के होकर भी दुर्बल हैं। आर्यसमाज का, वेद के सन्देशवाहक आर्यसमाज का कर्त्तव्य है कि वह भारत में वह जागृति उत्पन्न कर दे, जिसमें कि प्रत्येक देशवासी अपने को भारतमाता का पुत्र अनुभव करने लगे, तभी हमारे देश का सच्चा कल्याण होगा।

इसलिए आइये, इस महीने हम माता के दर्शन अवश्य कर लेवें।

उसके प्रति सचेतन और जागृत हो जावें।

जब हम भारत को माता कहते हैं तो यह केवल कल्पना नहीं होती। वेद ने जब पृथिवी को माता कहा है तो वह कोरा आलंकारिक वर्णन नहीं है। हमारा भारत देश सचमुच हमारी माता है। भारतमाता के सुपुत्र योगिराज श्री अरविन्द—जिन्होंने कि अपने राजनैतिक जीवन-काल में सबसे पहले भारत के नवयुवकों में देश के प्रति मातृभाव जगाया था, इसका दर्शन कराया था—कहते हैं, हमें अपने यौगिक ज्ञान द्वारा बतलाते हैं कि भारत की आत्मा ऐसी ही आत्मा है जैसे कि प्रत्येक वैयक्तिक पुरुष की एक आत्मा होती है। भारत की वही आत्मा अति प्राचीन काल से, ऋषि-मुनियों के आदि काल से, इस देश की सर्वविध उन्नति का अधिष्ठातृत्व करती रही है। देश के विविध प्रकार के भाग्य-विधाता उसी की प्रेरणा को समय-समय पर अनुभव करते रहे हैं और आज भी कर सकते हैं। उसी के प्रति हमें जागृत होना है। तभी हम वेद के शब्दों में सच्चे अर्थों में बोल सकेंगे—

माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः।

आइये, अन्त में हम उस माता से प्रार्थना करें "हे मातः! हमें महान् कर, महत्प्रयासी कर, उदारचेता कर, सत्यसंकल्पी कर, ऐसा कर जिससे कि हम अब और अल्पाभीप्सु, निश्चेष्ट, अलस तथा भयभीत न हों।"

"बलशाली, पराक्रमी, उन्नतचेता जाति, भारत के पवित्र काननों में, उर्वर खेतों में, गगनसहचर पर्वतों के तले, पूतसलिला नदियों के तीर पर एकता से, प्रेम से, सत्य-शक्ति से, शिल्प से, साहित्य से, विक्रम से, ज्ञान से श्रेष्ठ होकर निवास करें। मातृ-चरणों में यही प्रार्थना है, हे मातः प्रकट हो।"

[८]

सुशासन

मा व स्तेनऽ ईशत माघशं॑ सः।

—यजु:० १।१

पिछले महीने हम देश-भक्ति के गुण को ग्रहण कर चुके हैं। तो आइये, हम अब यह देखें कि अपने देश की सच्ची सेवा कैसे की जा सकती है? हम मातृ-सेवा कैसे करें? हम क्या करें, कैसे वर्तें, जिससे हमारी मातृभूमि भारतभूमि वस्तुतः समुन्नत हो, हमारा देश संसार में यशस्वी हो, हमारी देश-माता का मुख उज्ज्वल हो।

इस विषय में मैंने जिस वेद-वचन से शिक्षा ग्रहण की है वह यजुर्वेद के पहले ही मन्त्र का वचन है—

मा व स्तेनऽ ईशत माघशं॑ सः।

(वः) तुमपर (स्तेनः) चोर (मा) मत (ईशत) शासन करे, तुमपर (अघशंसः) पाप बढ़ानेवाला (मा) मत शासन करे।

जब तक हमपर विदेशी शासन था तब तक मैं इस वेदवचन को उस 'चोर' और 'अघशंस' शासन को हटाने के लिए प्रमाणरूप में उपस्थित किया करता था। पर इस वेद-वचन को पालन करने की अब अपने शासन के सम्बन्ध में भी हमें वैसे ही आवश्यकता है जैसे पहले थी, यद्यपि उसका पालन करना अब—अपना राज्य हो जाने से—हमारे लिए अधिक सुगम हो जाना चाहिए।

'यथा राजा तथा प्रजा' की कहावत पहले ठीक थी, जबकि राजा स्वतन्त्र या स्वयं-शासक होता था; अंग्रेजों के ज़माने में भी ठीक थी, क्योंकि अंग्रेज़ जो चाहते थे, करते थे, हमारा कुछ बस नहीं था। पर अब इस प्रजातन्त्र के युग में और भारत में भी अपना प्रजातन्त्र स्थापित हो जाने पर तो अधिक सच्ची बात 'यथा प्रजा तथा राजा' है। जैसी प्रजा होगी वैसा ही राज्य होगा, वैसा ही शासन होगा। यह बात हमें, हम आर्यसमाजी भाइयों को अच्छी तरह समझ लेनी चहिए। यद्यपि हमारा आर्यसमाज तो एक धार्मिक संस्था है, कोई राजनैतिक संस्था नहीं, फिर भी जो हमारा अपने देश के शासन के साथ सम्बन्ध है, वह इसी नाते है; जैसी प्रजा होगी वैसा

ही शासन होगा, इसी तथ्य के नाते है।

अंग्रेजों के विदेशी शासन को मैं 'स्तेन' या 'अघशंस' (चोर तथा पापवर्धक) क्यों कहता था? इसीलिए कि वह हमारा शोषण करता था, भारत की सम्पत्ति को नाना प्रकार से हरकर वह उससे चुपके-चुपके अपने घर को भरता था; मद्यपान, घूसखोरी आदि पापकार्यों को बढ़ावा देता था, इत्यादि इत्यादि। पर अंग्रेजी शासन की इन सब बुराइयों के लिए मैं तब भी अन्त में अपनी प्रजा की ही उत्तरदाता मानता था। पर इस समय तो अपने देश के शासन की सब बुराइयों के लिए हम सीधे उत्तरदाता हैं, किसी दूसरे को दोषी नहीं ठहरा सकते। अब जो जिस किसी प्रकार से गरीबों का शोषण होता है, देश में चोर बाज़ार चलते हैं, सरकारी कर्मचारी रिश्वत लेते हैं, अन्य भ्रष्टाचार हैं, उनका उत्तरदायित्व हमपर ही है। आर्यसमाज जैसी सच्ची धार्मिक संस्था को यह अनुभव करना चाहिए कि उस सबका उत्तरदायित्व उस पर है।

यह बात कैसे है, इसे हमें अच्छी तरह समझना चाहिए। वेद का यह उपदेश, वेद की यह आज्ञा कि तुमपर 'चोर तथा अघशंस शासन मत करें'—जैसे कि वेद के अन्य उपदेशों व आज्ञाओं में होता है—तीनों अर्थों में लागू होती है—व्यक्ति में, समाज में और विश्व में। व्यक्ति का अपने ऊपर जो शासन है उसमें स्तेन और पाप का शासन न हो तो ऐसे व्यक्तियों से बने समाज में और ऐसे व्यक्तियों से बने राष्ट्र में भी स्तेन और अघशंस का शासन कैसे रह सकता है? धार्मिक पुरुषों का, धार्मिक संस्थाओं का यही दृष्टिकोण होता है और यही होना चाहिए, क्योंकि समाज और राष्ट्र में व्यक्ति ही इकाई होता है। इसलिए यदि हम चाहते हैं कि उस अश्वपति का युग फिर इस देश में आ जाय जो कि दावे के साथ कह सकता था कि 'मेरे राज्य में कोई चोर नहीं, कोई मद्यप नहीं, कोई व्याभिचारी नहीं.....' तो उसका मौलिक उपाय यही है कि हम अपने वैयक्तिक जीवन में स्तेन और पाप के शासन को हटाकर सुशासन स्थापित कर लें। व्यक्ति के अन्दर पालन किया गया धर्म ही है जो कि देश के शासन को भी सच्चे अर्थों में सुधार सकता है।

हम सब जानते ही हैं कि यदि किसी सुधार के लिए लोकमत तैयार नहीं है तो सरकार के कानून बनाने से भी कुछ नहीं होता। उस कानून का दिन दहाड़े भंग होता है और सरकार कुछ नहीं कर सकती।

हमारे देश के व्यक्तियों में, फलतः हमारे देश के सामान्य समाज में

यदि चोर-भाव और चोरों का तथा पाप-भाव और पाप को बढ़ावा देनेवालों का बोलबाला है, उन्हीं की चलती है तो हमारे राजनैतिक शासन में भी यही होगा। इसीलिए महात्मा गाँधी स्वराज्य की प्राप्ति के लिए भी सदा रचनात्मक कार्यों पर बल देते थे। उनके खादी आदि आन्दोलन व्यक्ति और समाज में सुशासन लाने के लिए ही थे। उनका चर्खा-आन्दोलन शोषण को रोकने के लिए था। मिलों द्वारा जो ग़रीबों का शोषण होता है, तो 'स्तेन' का शासन चलता है उसको हटाकर निर्धन भारतवासियों को पेटभर अन्न मिले, इसी प्रयोजन के लिए था। इस प्रकार के शोषण भी कोई सरकार केवल क़ानून बनाकर नहीं रोक सकती। उसके लिए शोषण के विरुद्ध समाज में जागृति होनी आवश्यक है। सरकार तो शराब को भी केवल क़ानून से नहीं रोक सकती। इन सब समाज-सुधार के कार्यों के लिए आर्यसमाज जैसी धार्मिक संस्थाओं को कार्य करना चाहिए। हमारे देश के समाज में सच्चे धर्म के प्रचार द्वारा जो अनेक सुधार अपेक्षित हैं, उन सुधारों का करना ही देश में अच्छे राजनैतिक शासन की नींव हो सकता है।

अब लगभग प्रत्येक वयस्क नागरिक को मताधिकार प्राप्त है। पर अपने 'मतदान' का मूल्य हमारे देशवासी कहाँ जानते हैं? जैसे धन आदि वस्तुओं का दुरुपयोग होता है वैसे ही 'मत' भी बेचे या छीने या चोरी किये जाते हैं। हमें 'मत' के महत्त्व को, मतदान की पवित्रता को लोगों को समझाना होगा। देशवासियों को यदि हम यह सिखा सकें कि वे किसी दलबन्दी में न पड़कर अथवा किसी प्रलोभन या भय में न आकर केवल जो श्रेष्ठ, योग्य, सच्चरित्र व्यक्ति हैं उन्हें ही अपना मत प्रदान करें तो यह कितनी बड़ी सेवा है—देश का कितना हित-साधन है! चोर और अघशंस शासन को हटाने का कितना प्रबल उपाय है!

पर अन्त में हमें वैयक्तिक रूप में ही चोर और अघशंस के शासन से मुक्त होना है। जब हम देखते हैं कि जगह-जगह अन्याय है, अन्धेर है, सत्य का गला घोंटा जा रहा है, रिश्वत है, चोरबाज़ारी है, अन्य भ्रष्टाचार है, सरकारी कर्मचारी ही रक्षक की जगह भक्षक हैं, इस प्रकार स्तेन और पापवर्धकों का राज्य छाया हुआ है, तो भी निराश नहीं होना चाहिए और यह समझना चाहिए कि इस कुशासन को हटाकर सुशासन स्थापित करने में मैं व्यक्तिशः जो कुछ कर सकता हूँ यदि वह कर रहा हूँ तो शेष सब ठीक हो जाएगा। अपने अन्दर सुशासन हो, यह सबसे मुख्य बात है। जब

हम स्वयं चोरी करते हैं, किसी शोषण में भागीदार बनते हैं तो पहले हमारे अन्दर के आत्मा के राज्य को हटाकर वहाँ चोरभाव का राज्य स्थापित हो जाता है, तभी हम वैसा करते हैं। जब हम स्वयं पाप को बढ़ाते हैं, पापवर्धक कार्य में रत होते हैं, तब हमारे अन्दर आत्मा राज्यच्युत होकर पाप-सिंहासनारूढ़ हो चुका होता है, तभी हम वैसा करते हैं। इसलिए जब हम स्वयं किसी की निर्धनता, अज्ञान, कष्ट का लाभ उठाना कभी नहीं चाहेंगे, चाहे कितना बड़ा प्रलोभन या भय होने पर भी स्वयं ठीक व्यक्ति को मतदान करेंगे, कठिनाई होने पर भी स्वयं रिश्वत नहीं देंगे या लेंगे, स्वयं चोर-बाज़ार से वस्तुएँ नहीं खरीदेंगे, एवं उस समय के अनुसार किसी चोरी या पाप में स्वयं भागीदार नहीं बनेंगे, तभी हम अपने समाज तथा राष्ट्र में से स्तेन तथा अघशंस शासन हटाने में, बल्कि विश्व में से, सब संसार से, इस पृथिवी पर से, चोर और अघशंस शासन को हटाने में सफल हो सकेंगे और इस वेदाज्ञा को आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक अर्थों में पालन करनेवाले होंगे—

मा वः ईशत माघशंः सः।

[९]

श्रद्धा

"श्रद्धया विन्दते वसु।"

—ऋ० १०।१५१।४

प्राय: सुना जाता है कि हम आर्यसमाज के सभासदों में श्रद्धा की कमी होती है। यह कहाँ तक ठीक है, यह तो पाठकों को अपने हृदयों से पूछना चाहिए। कई बार स्वयं इस लेख के लेखक का ऐसा दुर्भाग्य हुआ है कि कई अन्यमतावलम्बी बड़े भद्र पुरुषों ने केवल यह जानकर कि अमुक आर्यसमाजी है, यह निश्चय से मान लिया था कि यह अवश्य श्रद्धा-रहित है और इससे बड़ी कठिनाई उपस्थित हुई। ज़रा विचारिये, यह हमपर कितना भारी लाञ्छन है! हमें चाहिए कि हम अपने पर से यह लाञ्छन शीघ्र-से-शीघ्र दूर करने का प्रबल यत्न करें। आशा है कि यदि हम इस दिशा में थोड़ा-सा भी यत्न करेंगे तो आसानी से श्रद्धा-प्राप्ति में हम कृत-कार्य हो सकेंगे।

हममें श्रद्धा की कमी क्यों है? कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि जिस ज़माने में आर्यसमाज का उदय हुआ, उस समय अन्धविश्वास का सर्वत्र राज्य था। इसलिए आर्यसमाज को तर्क का विशेषतया अवलम्बन करना पड़ा। परन्तु यह तर्क शायद हममें इतना बढ़ गया है कि अपनी सीमा का उल्लंघन कर गया है और हमारी श्रद्धा-विहीनता का यही कारण है।

इसलिए हमें श्रद्धा और तर्क का ठीक-ठीक स्थान समझ लेना चाहिए। आवश्यक तो ये दोनों वस्तुएँ हैं। उनको दो विरोधी वस्तुएँ समझना बड़ी भूल है। ये दोनों तो भाई और बहिनें हैं और परस्पर अत्यन्त सहायक हैं। एक सूत्र में कहा जाय तो श्रद्धा होने पर ही अगला तर्क ठीक कर सकते हैं तथा तर्क द्वारा श्रद्धा स्थापित होती है। इसको समझने के लिए हमें श्रद्धा का स्वरुप देखना चाहिए। श्रद्धा का सरल भाषार्थ है 'सत्य में विश्वास'। इसका शब्दार्थ भी श्रत्+धा अर्थात् 'सत्य की धारणा' है। जब तक हमारी किसी सत्य में श्रद्धा नहीं होती तब तक वह सत्य हमारे हृदय में पूरी तरह नहीं जमता। श्रद्धा ही हमारे अन्दर सत्य को दृढ़ता से जमा देती है और जब हममें कोई सत्य जम जाये तभी हम उसके आधार पर तर्क द्वारा अगला ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। उदाहरणार्थ—यदि हमें इस प्रसिद्ध व्याप्ति में कि 'जहाँ-जहाँ धुआँ होता है वहाँ-वहाँ अवश्य आग होती है, श्रद्धा न हो,

तब हम इस आधार पर कोई ज्ञान नहीं पा सकते—तर्क नहीं कर सकते। अतः तर्क के लिए श्रद्धा जरूरी है, और श्रद्धा भी तर्क से होती है। जब हमें किसी मनुष्य में या ग्रन्थ में श्रद्धा होती है तो असल में हमारा मन पहले तर्क करता है कि ऐसे मनुष्य की या इस मनुष्य की, ऐसे ग्रन्थ की या इस ग्रन्थ की बातें सच्ची ही होती हैं, अतः यह जो कुछ कहता है वह ठीक है, नहीं तो हरएक आदमी या हरएक बात में हमारी श्रद्धा क्यों नहीं हो जाती? वस्तुतः जहाँ कहीं हमारी श्रद्धा जमती है वहाँ पहले तर्क काम कर चुका होता है। अतः यह स्पष्ट है कि श्रद्धा और तर्क का परस्पर अत्यन्त सम्बन्ध है। जिसमें जितनी ही अधिक श्रद्धा होगी, वह उतना ही उच्च तर्क कर सकेगा और ठीक सत्य प्राप्त कर सकेगा। हममें श्रद्धा की कमी है अतः हमारा तर्क भी हमें बहुत दूर नहीं पहुँचाता और हमारे लिए उच्च सत्य को नहीं प्रकाशित करता।

ज़रा ऋषि-बोध की घटना पर ही विचार कीजिये। बालक मूलशंकर के रूप में विद्यमान उस भावी ऋषि ने उस रात बेशक यह तर्क किया कि जो अपने शरीर पर से चूहे को भी हटा नहीं सकता वह शिव नहीं हो सकता। परन्तु हमें इसका यह तर्क ही दिखाई देता है, इसकी आधारभूत जो गहरी श्रद्धा उसमे विद्यमान थी उस पर हमारी दृष्टि नहीं पहुँचती। उस महान् बालक को पता लगा कि उस दिन शिव के उपलक्ष्य में उपवास करना चाहिये तो उसने माता द्वारा रोके जाने पर भी श्रद्धा-वश उपवास किया। उसे बड़ों से पता लगा था कि शिवरात्रि को जागरण करना चाहिये, बस उसने रात-भर जागरण-व्रत का निश्चय कर लिया और सम्पूर्ण रात्रि आँखों पर पानी के छींटें डाल-डालकर अपने व्रत को निवाहा।

उस छोटे-से बालक की श्रद्धा अनुभव करने योग्य है। इसी श्रद्धा का फल था कि वह ऐसा महान् तर्क कर सका जो कि पीछे सहस्रों की आँखें खोलनेवाला हुआ। यदि तर्क न्याय-शास्त्र पढ़ लेने से ही आ जाता तो उन पुजारियों में भी कई न्याय के पढ़े हुए पंडित होगें जो कि वहाँ शिवमन्दिर में उस रात पड़े सोते रहे, जबकि श्रद्धामय मूलशंकर पास ही जागता रहा। इसीलिए चाहे उन्होंने सैकड़ों बार शिवमूर्ति पर चूहे चढ़ने जैसे दृश्य देखे होंगे, परन्तु फिर भी वे मूलशंकर जैसा तर्क न कर सके। इसका कारण यही है कि बिना श्रद्धा के ठीक तर्क किया ही नहीं जा सकता। असली तार्किक वही है जो कि श्रद्धालु है। हम अश्रद्धालुओं के तर्क प्रायः कुतर्क होते हैं और वे हमें सत्य पर नहीं पहुँचाते तथा कहीं और भटका

देते हैं।

अतएव भगवान् व्यास ने लिखा है "**तर्काप्रतिष्ठानात्**"। यदि हम हरएक बात सचमुच तर्क से ही निश्चय करने लगें तो हम एक छोटी-सी क्रिया भी पूरी नहीं कर सकेगें। परन्तु मनुष्य स्वभावत: बहुत-सी बातों को बिना तर्क से मान लेता है—"**श्रद्धामयोऽयं पुरुष:**"। हमारे शायद तीन-चौथाई काम ज़रुर केवल श्रद्धा के बल पर होते हैं। यदि हम हरएक बात में तर्क करने लगें तो हमारा जीवन ही असम्भव हो जाय। हम सब तर्क द्वारा जान ही नहीं सकते। इसीलिए शब्दप्रमाण मानने का आवश्यकता होती है। नहीं तो बौद्धों की तरह प्रत्यक्ष और अनुमान ही हमारे लिए काफ़ी थे, परन्तु हम चूँकि तर्क के अप्रतिष्ठान आधार पर नहीं रह सकते, इसलिए हमें अनुभवी पुरुषों की, आप्तजनों की बात मान लेनी आवश्यक होती है और वह प्रामाणिक होती है। ऐसी अवस्थाओं में सत्य जानने का और कोई तरीक़ा ही नहीं होता। यदि मैं जन्म से अन्धा हूँ तो स्पष्ट है कि मैं किसी वस्तु के रूप को नही देख सकता और उसके आधार से किये जानेवाला तर्क भी नही कर सकता; तो जो चीजें आँख से देखने की हैं उन्हें मैं सब आँखोंवालों के कहने पर यदि श्रद्धा कर न मान लूँ और इस दर्शन से अनुमित वस्तुओं को भी मैं न मान लूँ तो मैं केवल अपने को ज्ञान से वंचित करुँगा और हानि उठाऊँगा। इसी तरह असल में हम सब लोग बहुत-सी बातों के लिए अन्धे हैं। जिन अवस्थाओं को हमने प्राप्त नहीं किया है, वहाँ के सत्यों को हम नहीं जान सकते और इन सत्यों के आधार पर तर्क करके जानी हुई बातों को भी नहीं जान सकते। इसलिए यदि इस स्थिति को प्राप्त कोई आप्तपुरुष हो या फिर उसके वचन हों, तो हमें उसकी बात पर श्रद्धा करनी चाहिए। वहाँ तर्क करना वृथा है। यदि हम उसकी बात नहीं मानेंगे तो हमारी ही हानि है, और कुछ नहीं। इसलिए ऋषि, मुनि, महात्माओं पर श्रद्धा करनी चाहिये, वेद पर श्रद्धा करनी चाहिए। उन आप्तों की कही बातें यदि पूरी तरह नहीं समझ में आती हों, तो भी कुछ देर तो श्रद्धापूर्वक आचरण करते हुए उन्हें समझने का यत्न करना ही चाहिये। यह बात व्यर्थ है कि हमें तर्क से यह समझ में नहीं आयी। वहाँ श्रद्धा ही तर्क है। एक कथा है कि एक कुएँ के मेढ़क के पास एक समुद्र का मेढ़क गया। समुद्र के मेढ़क ने कहा कि समुद्र बहुत बड़ा है। पास पड़े हुए पत्थर की तरफ़ इशारा करके कूपमण्डूक ने पूछा 'क्या इससे भी बड़ा है? उसने कहा 'इससे क्या, कुएँ से भी न जाने कितना

बड़ा है।' इसपर उस कुएँ के मेढ़क को बड़ा गुस्सा आ गया और उसने कहा 'जा झूठे, तू यहाँ से चला जा।' यह बेचारा कुएँ का मेंढ़क, जिसने कुएँ के सिवाय कभी कुछ वस्तु नहीं देखी, कैसे मान सकता है कि कुएँ से भी बड़ी कोई वस्तु होगी? यही हालत बहुत बार हमारी होती है। कई बार सचमुच किसी सूक्ष्म सत्य के बताये जाने पर हमें क्रोध आया करता है, जहाँ असल में हमें श्रद्धा होनी चाहिये इस प्रकार ज्ञान प्राप्त करने के लिए श्रद्धा और शब्दप्राण कितने आवश्यक हैं, यह पाठक समझ गये होंगे।

साथ ही, सत्य में श्रद्धा होने से बड़ा बल प्राप्त होता है। श्रद्धा के बल पर हम दुनिया में जम जाते हैं। यदि हम तर्क करें तो हमें कहीं खड़े होने को जगह भी नहीं है। ऐसी हालत में हम सदा संशयित अवस्था में रहेंगे। इसलिए हमें चाहिये कि जिस चीज़ का ज्ञान हो जाय कि यह सत्य है, उसपर हम श्रद्धा करें, उसपर दृढ़ विश्वास जमावें। यदि हमारी किसी एक सत्य पर ही पूरी श्रद्धा हो जाय तो हममें इतना बल प्रकट हो जायगा कि बड़ा आश्चर्य होगा। सब महापुरुष दुनिया की किसी एक सच्चाई में अगाध विश्वास रखने के कारण ही महापुरुष हुए हैं। ऋषि दयानन्द की सत्य पर श्रद्धा थी, परमात्मा पर अटल श्रद्धा थी, इसलिए वे परमात्मा के सदा अपने साथ अनुभव करते थे और उसकी सर्वशक्तिमत्ता की छाया अपने ऊपर समझते हुए सत्य का प्रचार करते थे, इसीलिये वे इतने बली थे, निर्भीक थे, प्रतापी थे। यदि हमें पूर्वजन्म में विश्वास हो आत्मा की अमरता में विश्वास हो, कर्मों के अटल फल में विश्वास हो, इनमें से किसी एक बात में अटल श्रद्धा हो, तो हम असाधारण पुरुष बने बिना नहीं रह सकते। श्रद्धा में ऐसा हा बल है। इस श्रद्धा से विपरीत है अविश्वास, संशयात्मता। भगवान् कृष्ण ने चौथाई श्लोक में कह दिया है "**संशयात्मा विनश्यति**", संशयस्वभाव-पुरुष का नाश होता है। हमारी किसी भी सत्य में दृढ़ श्रद्धा न होने के कारण हम हरएक बात में शंकित रहते हैं 'इससे न जाने क्या होगा? इसका कुछ फल होगा या नहीं?' हमारे सब काम इसी संशयात्मता में किये जाने के कारण निर्बल होते हैं और उनका कुछ फल नहीं होता, अथवा बहुत अपर्याप्त फल होता है। इसलिए वेद ने बतलाया है—

श्रद्धया विन्दते वसु।

हरएक प्रकार की सफलता श्रद्धा से मिलती है। परमात्मा की भिन्न-भिन्न शक्तियों में विश्वास ही 'देवताओं में श्रद्धा' है। जिसका जितने बड़े

सत्य में विश्वास होगा, उसमें उतना ही अधिक बल प्रकट होगा और सफलता मिलेगी। जहाँ तक मनुष्य में श्रद्धा होती है, निःसंशयावस्था रहती है, वहाँ तक वह बड़े वेग से और शक्ति से काम करता है, यह सभी के अनुभव की बात होगी। इसलिए श्रद्धा जमाने का सरल उपाय यह है कि हम दिन में जो भी काम करें, हरएक काम श्रद्धा से करें; इससे यह ज़रुर फल होगा, इस विश्वास के साथ करें। श्रद्धा-विहीन होकर, उसके लाभ में सन्देह रखते हुए या उसे निष्फल समझते हुए अप्रसन्न मन से कोई भी काम न करें। हरएक कार्य का "वसु" तो श्रद्धा से ही प्राप्त होता है। यह बात किसी की अनुभव की हुई नहीं है कि यदि एक ही काम और समान काल में एक बार अश्रद्धा से, और एक बार श्रद्धा से किया जाय, तो उसका फल क्रमशः "बहुत कम लाभ" व "बहुत अधिक लाभ" होता है। तो हम यदि निष्फल कार्य नहीं करना चाहते तो हमें अपने सब कर्म श्रद्धा से करने चाहियें। सन्ध्या श्रद्धा से कीजिये, व्यायाम श्रद्धा से कीजिये, शयन श्रद्धा से कीजिये, अपना हरएक काम श्रद्धा से कीजिये। चौबिसों घंटे हमारे अन्दर श्रद्धा का राज्य रहें। तब हम इस वेदोक्त प्रार्थना में सम्मिलित हो सकेंगे कि—

श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यन्दिनं परि।
श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः॥

—ऋ० १०।१५१।५

अर्थात् 'प्रातः हम अपने में श्रद्धा को बुलावें, दिनभर हममें श्रद्धा रहे, सायं को भी श्रद्धा का आह्वान करें, हे श्रद्धे! तू हमें सदा श्रद्धायुक्त रख।'

यदि हम इस प्रकार अपना जीवन श्रद्धामय बनावेंगे तो श्रद्धामूर्ति दयानन्द के शिष्यों पर कोई लांछन न लगा सकेगा कि आर्यसमाज के लोग साधारणतः अश्रद्धालु होते हैं।

[१०]

सत्य

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्।
इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि॥ —यजु:० १।५

एक बार एक विद्वान् लेखक ने ऋषि दयानन्द पर लिखने के लिए सत्य का दूत' यह अतीव उपयुक्त शीर्षक दिया था। सचमुच दयानन्द सत्य का सन्देश लेकर ही संसार में आये थे। उन्होंने दुनिया में जहाँ कहीं असत्य देखा उसका खण्डन किया और जहाँ जो सत्य देखा वह ज़रुर कहा, फिर चाहे सब संसार उनसे नाराज़ हो जाय, लोग ईंटें बरसायें या जहर भी दे देवे। उन्हे सत्य प्यारा था, सदा प्यारा था और सत्यस्वरुप परमात्मा में भक्ति थी। पिछले लेख में हम यह जान चुके हैं कि सत्य और श्रद्धा बहुत नज़दीकी वस्तुएँ हैं। सत्य में विश्वास का नाम ही श्रद्धा है। इसलिए श्रद्धालु दयानन्द स्वभावत: "सत्य के दूत" हुए और जगत् में ईश्वरीय सन्देश फैला गये। सत्यार्थ का प्रकाश करना ही एकमात्र उनका जगत् में उद्देश्य था। हम उनके आर्यसमाज में उनके इस महान् सन्देश का अनुसरण करने के लिए ही प्रविष्ट हुए हैं। वे जो हमारे लिए खज़ाना छोड़ गये हैं उसमें एक चमकता हुआ अनमोल हीरा यह है—

'सत्य के ग्रहण करने और असत्य के
त्यागने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये।'

यह सब जगत् अटल सत्य नियम से चल रहा है। सबने सत्यस्वरुप तक सत्यमार्ग से ही पहुँचना है। इसीलिए उपनिषद् में कहा है—

सत्यमेव जयते नाऽनृतम्।
सत्येन पन्था विततो देवयान:॥

और इसलिए सत्य सबसे बड़ा धर्म है। सब पुण्यकार्य सत्य में समा जाते हैं और सब अधर्म और सब पाप 'असत्य' या 'अनृत' शब्द से समझे जा सकते हैं, क्योंकि धर्म और अधर्म, अटल सत्य नियमों का पालन करना और तोड़ना है। जब हम सत्य-व्यवहार करते हैं तब जगत् की सब शक्ति हमारी पीठ पर होती है, हमारे अनुकूल होती हैं; और जब हम थोड़ा-सा भी असत्य करते हैं, चाहे हम न जानें, तब हम महान् शक्ति को ललकारते हैं और स्वभावत: दु:ख पाते हैं। जो है वह सत्य है और जो है नहीं वह असत्य है; तो सत्य के विपरीत आचरण करना व्यर्थ में अपना सिर शिला से टकराना है। यदि हम इस इतनी स्पष्ट बात को समझ जायँ तो हम कभी भी असत्य बोलना न चाहें, कभी भी असत्य न सोंचे और कभी असत्य न करें।

संसार में अवश्य धोखे से भी सफलता मिलती दिखाई देती है, परन्तु यह सफलता क्षणिक होती है और असल में अवास्तविक होती है। फिर भी यह जितनी सफलता दिखाई देती है वह इसलिए होती है कि असत्य सत्य का रुप धर आया होता है। कोरे नंगे असत्य से किसी को धोखा नहीं दिया जा सकता। यदि सत्य का रुप धरने से ही कुछ क्षणिक सफलता मिलती है तो असली सत्य द्वारा ही क्यों न चिरस्थायी सफलता प्राप्त की जाय! इस धोखे से मनुष्य को सदा बचना चाहिये।

यह ठीक है कि सत्य का जानना भी बड़ा कठिन है। परन्तु यह तभी तक है जब तक कि सत्य से प्रेम नहीं होता। जिसे सत्य की लगन है, यही जिसके लिए दुनिया में एकमात्र चीज़ है, उसके पास तो सत्य प्रेमीजन की तरह भागा आता है। उसके लिए सत्य बड़ा आसान हो जाता है, यह तो बात प्रेम की है। सत्य में अपना प्रेम पैदा कीजिये, सत्य से अपना अटूट नाता जोड़ लीजिये, यह एक ही वस्तु हमें हमारे उद्देश्य तक पहुँचाने के लिए पर्याप्त है।

अन्त में मैं सत्य के एक पुजारी महात्मा (गाँधी) के सत्य-विषयक कुछ वचन उद्धृत करता हूँ और आशा करता हूँ कि जैसे मुझे उन वचनों के पढ़ने से सत्य के लिए उत्साहना मिली है, वैसे ही पाठकों को भी प्राप्त होगी—

''कहते हैं कि एक न्यायाधीश ने प्रश्न किया कि 'सत्य क्या है?' उसका उत्तर उसे नहीं मिला। पर हिन्दू धर्मग्रन्थों के अनुसार सत्य के लिए हरिश्चन्द्र ने सर्वस्व अर्पण कर दिया और खुद स्त्री-पुत्र-सहित चाण्डाल के हाथ बिक गये, इमाम हसन और हुसैन ने सत्य की खातिर अपने प्राण तक दे दिये। ऐसा होते हुए भी उस न्यायाधीश को जबाब नहीं मिला कि 'सत्य क्या है'।''

''हरिश्चन्द्र जिसे सत्य समझते थे उसके लिए तरह-तरह के संकट सहकर अमर हो गये। इमाम हुसैन ने जिसे सत्य जाना उसके लिए अपना प्यारा देह तक खो दिया, पर हरिश्चन्द्र और इमाम हुसैन का जो सत्य था वह हमारा सत्य हो या न भी हो। क्योकि हरएक व्यक्ति का सत्य परिमित अथवा सापेक्ष सत्य होता है।''

''पर इस परिमित सत्य के बाद शुद्ध निरपेक्ष सत्य तो है ही जो अखण्ड और सर्वव्यापक है। यह अवर्णनीय है, क्योंकि सत्य ही तो परमेश्वर है अथवा परमेश्वर ही तो सत्य है।''

''इसलिए जिसने सत्य के सच्चे स्वरुप को पहचान लिया है, जो 'काया वाचा मनसा' सत्याचरण ही करता है, उसने परमात्मा को पहचान लिया है और इसीलिये वह त्रिकालदर्शी भी होता है। वह जीवनमुक्त है।''

''जिसका जीवन सत्यमय है वह तो स्फटिकमणि-जैसा है। असत्य तो इसके पास एक क्षण-भर भी नहीं टिक सकता, सत्याचरणी को कोई ठग भी नहीं सकता, क्योंकि उसके सामने दूसरों को असत्य भाषण करना असम्भव

होना चाहिए। संसार में सब से अधिक कठिन व्रत यही है। सत्य स्वयंप्रकाश और स्वयंसिद्ध है। मैं जानता हूँ कि ऐसा सत्याचरण इस विषम काल में कठिन है, पर अशक्य नहीं। जो पूरा सत्यवादी है वह तो अनजान में भी न असत्य कहता है, न करता है। वह असत्य कहने और करने में असमर्थ हो जाता है। सत्य कहना और करना उसका स्वभाव हो जाता है।''

''हमें हरएक कार्य में सत्य ही का दृढ़तापूर्वक प्रयोग करना चाहिए। सत्य पर पूरी श्रद्धा रखनी चाहिए और जो सत्य मालूम हो उसे वैसा ही कहने में किसी से न डरना चाहिए, सत्य के अभाव में निर्दोषिता असम्भव है। सत्याचरण ही हमारी मुक्ति का द्वार है।''

''सत्य शब्द की व्युत्पत्ति सत् से है जिसका अर्थ 'होना'। केवल परमात्मा ही सदा तीनों काल में एकरूप है। इस सत्य की जिसने भक्ति की है, इसे अपने हृदय में बिठा दिया है, उस पुरुष को मेरा सौ-सौ बार प्रणाम है!''

''मैं तो यह कभी नहीं मानता कि अत्युक्ति से कभी जनता का थोड़ा भी भला हो सकता है। अत्युक्ति तो असत्य का ही एक रूप है। असत्य से यदि प्रजा की उन्नति होती हुई दिखाई दे, तो भी हमें तो उसका त्याग ही करना चाहिये, क्योंकि वह उन्नति आखिर अवनति ही सिद्ध होगी।''

''आधे सत्य को मैं डेढ़ असत्य कहता हूँ, क्योंकि वह दोनों को भ्रम में डालता है।''

''मेहतर के शरीर पर जो मैला लगता है वह तो शारीरिक, स्थूल होता है। उसे तो हम फ़ौरन धो सकते हैं। पर अगर किसी पर असत्य, पाखण्ड अदि का मैल चढ़ जाय, तब तो उसे धो डालना बहुत ही कठिन बात है, क्योंकि वह मैल बहुत सूक्ष्म होता है। अगर कोई अस्पृश्य कहा जाय तो असत्यवादी और पाखण्डी लोगों को भले ही ऐसा कह सकते हैं।

''जो सत्य प्रतीत हो उसका आचरण करना, इसी का नाम ''सत्याग्रह'' है। मैं तो जनता की सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक उन्नति जितनी सत्याग्रह में देख सकता हूँ उतनी और किसी में नहीं।''

तो आइये, आज से हम सत्य का व्रत धारण करें और वेदमन्त्र द्वारा इसके लिए परमात्मा से अटल साहाय्य की प्रार्थना करें—

अग्ने॑ व्रतपते व्र॒तं च॑रिष्यामि॒ तच्छ॑केयं॒ तन्मे॑ राध्यताम्।
इ॒दम॒हमनृ॑तात् स॒त्यमुपै॑मि॥

'हे ज्ञानस्वरुप, हे सब व्रतों के स्वामी! मैं यह व्रत धारण करुँगा। यह आपके सन्मुख प्रतिज्ञा करता हूँ। मैं इस व्रत को कर सकूँ। मेरा यह व्रत कराओ। मैं अनृत को छोड़ता हूँ और सत्य को प्राप्त होता हूँ।'

[११]

अहिंसा

उदगादयमादित्यो विश्वेन सहसा सह।
द्विषन्तं मह्यं रन्धयन्मो अहं द्विषते रधम्॥

—ऋ० १।५०।१३

यह वेद-मन्त्र ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के ५०वें सूक्त का अन्तिम मन्त्र है। इसका अर्थ यह है—"**यह आदित्य परिपूर्ण बल के साथ उदय हुआ है।**" क्या करता हुआ? "**मेरे लिए द्वेषी शत्रु का नाश करता हुआ, इसलिए मैं द्वेष करनेवाले का कभी नाश मत करूँ।**" इस मन्त्र का अन्तिम पद तो सब उन्नति चाहनेवाले आर्यपुरुषों को कण्ठाग्र याद कर लेना चाहिए—**मो अहं द्विषते रधम्**—(अहं) मैं (द्विषते) द्वेष करनेवाले का (मा उ) कभी मत (रधम्) नाश करूँ, परन्तु मनुष्य के चित्त में शंका पैदा होती है कि मैं द्वेषी का क्यों नाश न करूँ? जब वह मुझसे द्वेष करता है, मुझे कष्ट देता है तो मैं उसे कष्ट क्यों न दूँ? इसी बात का उत्तर पहले तीन पदों में दिया है।

मैं इसलिए नाश न करूँ, क्योंकि संसार में एक आदित्य उदय हुआ है, **पूर्ण बल** के साथ उदय हुआ है, और वह द्वेष करनेवाले का नाश कर रहा है। यह बतलाने की तो ज़रूरत नहीं कि इस प्रकरण में यह आदित्य परमात्मा है और उसका पूर्ण बल (विश्वसहः) उसकी सर्वशक्तिमत्ता है। वह हिंसा करनेवाले का नाश करता है। यह उसका स्वाभाविक गुण है। तो मैं क्यों व्यर्थ में द्वेषी के नाश करने में लगूँ? क्योंकि यदि उस द्वेष करनेवाले का नाश होना चाहिए तो वह हो रहा है, मैं उसका दण्डविधाता बनने के लायक नहीं हूँ। परन्तु बदला लेना, प्रति-हिंसा करना, केवल इस कारण अनुचित नहीं है, इतना भारी पाप नहीं है। यह तो अपना नाश करनेवाला है, इसलिए घोर पाप है। नाशकारकता साफ़ है, क्योंकि वह सर्वशक्तिमान् उदित हुआ आदित्य द्वेष करनेवाले का नाश करता है। "**द्विषन्तं रन्धयन्**" वह सदा है। यदि हम द्वेष करेंगे—चाहे हम बदले में करें या स्वयं शुरू करें—वह अपने स्वाभाविक गुण के अनुसार नाश करेगा। यह समझना कि यदि मैं द्वेष करूँगा तो मेरा नाश नहीं होगा, बड़े अँधेरे में रहना है। अतः हमें प्रति-हिंसा इसीलिए नहीं करनी चाहिए, क्योंकि इससे हमारा नाश होता है। परन्तु हमने यह बात नहीं समझी है,

इसलिए हमें जो कोई गाली देता है तो हम और बढ़कर गाली देते हैं, जो हमें दु:ख देता है हम दाँत पीसकर उसे और दु:ख देना चाहते हैं। जो हमारी कुछ हानि करता है हम उसे जान से मार डालने का यत्न करते हैं। किसी पूर्ण न्यायकारी को अपने ऊपर न देखकर व्यक्ति से व्यक्ति बदला ले रहा है, ईश्वर के पुत्रों का एक समुदाय दूसरे समुदाय से लड़ रहा है और फिर एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र का नाश करना चाह रहा है।

कभी भारत में हिन्दू और मुसलमान आपस में प्रति-हिंसा कर रहे हैं और कभी बड़े-बड़े राष्ट्र प्रति-हिंसा की इच्छा से इस वसुन्धरा को शत्रु-रुधिर से स्रावित करने की तैयारी कर रहे हैं। यह सब दुनिया में क्यों हो रहा है? इसलिए कि हमें इस वेद-वचन पर विश्वास नहीं; विश्वास नहीं कि दुनिया पर कोई सर्वशक्तिशालिनी सत्ता राज्य कर रही है और वह द्वेष करनेवाले का सदा नाश कर रही है। इसलिए हम स्वयं ही द्वेषी को दण्ड देने के बहाने से प्रति-हिंसा में लग जाते हैं और यह भूल जाते हैं कि हम ही इस कार्य द्वारा उस सच्चे शासक के दण्डनीय बन रहे हैं और अपना नाश कर रहे हैं। सच तो यह है कि इस विश्वास के बिना अहिंसक बनना असम्भव है। जिसे परमात्मा के न्याय पर विश्वास नहीं, वह कभी 'अहिंसा' धर्म का पालन नहीं कर सकता। इस हिंसाबहुल संसार में जो कुछ 'अहिंसा' के उज्ज्वल पवित्र दृश्य दिखाई देते हैं उनके मूल में यही सत्य विश्वास होता है। संसारग्रस्त लोग कहते हैं कि ऐसे कष्ट सहने से कुछ लाभ नहीं है; परन्तु जो उस आदित्य को उदय हुआ देख रहे हैं वे इनकी बात को कैसे मान लें? उन्हें तो दीखता है कि जो मनुष्य प्रति-हिंसा नहीं करता—हिंसा को सहता जाता है, वह अपने को परमात्मा की छत्र-छाया में ले जाता है, उस सर्वशक्तिमान् की सर्व-रक्षक शरण में हो जाता है; और जो बदले में तलवार चलाता है, वह केवल उस तुच्छ तलवार की शरण में जाता है और उस परमात्मा का अपराधी भी साथ-साथ बनता है। उन्हें तो इतना भारी भेद दिखाई देता है, इसलिए वे 'शत्रु के प्रहार को सहना' ही अपने लिए अतिकल्याणकर समझते हैं।

इतना ही नहीं, वे यह समझते हैं कि दूसरों की हिंसा करना उनके वशीभूत हो जाना है और दूसरों से प्रेम करना उन्हें अपने वश में कर लेना है। 'रध' धातु का अर्थ 'वशगमन' भी होता है, यह निरुक्त में कहा है। तो इस मन्त्र का अर्थ होता है कि 'चूँकि आदित्य विश्वसह के साथ, शत्रु को मेरे वश में करता हुआ उदित हो गया है, अत: मैं शत्रु के वश में न होऊँ।' वेद के शब्द कितने गूढ़ अभिप्राय रखते हैं, उसका यहाँ भी एक दृष्टान्त है। आशा है पाठक एक ही शब्द के " हिंसा करना" और " वशीभूत

होना'' ये दोनों अर्थ होने का सौन्दर्य समझेंगे और जान जायेंगे कि हिंसा में जहाँ दूसरे के वशीभूत हो जाना होता है, वहाँ अहिंसा में कितनी भारी शक्ति दूसरों को अपने वश में करने की और जगत् का महान् कल्याण करने की है।

इसीलिए संसार के उस महापुरुष ने, जो कि जगत् में अहिंसा धर्म की स्थापना के लिए आया था, अथवा संसार की बढ़ी हुई हिंसा ने जिसे बुलाया था (मेरा मतलब महात्मा गाँधी से है) सन् १९२३ में चाहा कि यदि बारडोली के भारतवासी निहत्थे खड़े हों और उनके चित्त में अंग्रेज़ों के प्रति द्वेष का लेश तक न हो, बल्कि वे हृदय से उनकी मंगलकामना कर रहे हों और उन पर अंग्रेज़ी सरकार की गोलियाँ बरसकर उनके सिर ऐसे फोड़ती जायँ जैसे कि फटाफट कच्चे घड़े फूटते जाते हों, तो वह दृश्य भारत के लिए—बल्कि जगत् के लिए परम-परम सौभाग्य का होगा। ऐसा दृश्य चाहने का बल उसी में आ सकता है जो कि जगत् में सर्वशक्तिमान् आदित्य को काम करता हुआ साक्षात् देख रहा है। सचमुच ऐसा द्रष्टा थोड़ी-सी तोप-बन्दूकों की सहायता के प्रलोभन को छोड़कर सर्वशक्तिमान् की ही अक्षय सहायता को चाहता है। भक्त **प्रह्लाद** को इतने दुःख सहने का साहस था—लगातार अहिंसक रहने का साहस था—तो इसी कल्याणकारी विश्वास के बल पर था। ऋषि दयानन्द को जब जगन्नाथ ने ज़हर खिलाया, तो उन्हें उसपर करुणा उत्पन्न हुई, अन्दर से दया का स्रोत बह निकला। उन्होंने उसे कहा 'खैर, जो कुछ तूने किया, सो किया, अब तू यहाँ से चला जा, नहीं तो मेरे भक्त तुझे तंग करेंगे।' भाग जाने के लिए उसे अपने पास से रुपये दिए। ज़हर खाकर उन्हें चिन्ता यह हुई कि जिसने उन्हें मारा है, उसकी रक्षा कैसे हो, इसमें अपने मरने को भी भुला दिया। उस वेदवचन को समझनेवाला ही ऐसा कर सकता है। यह एक क़दम और आगे है कि जो हमारी हिंसा करे हम उसकी हिंसा न करें; यही नहीं, किन्तु उसकी भलाई करें—यह ऋषि दयानन्द का उपदेश है। क्रोध के स्थान पर करुणा! मारनेवाले पर भी दया! सारे जीवन-भर जो उन्होंने गालियाँ सुनीं, पत्थर-ईंटें खायीं, और न जाने क्या-क्या कष्ट सहे, ये सब बातें हमें और क्या उपदेश देती हैं? क्या दयानन्द के शिष्य 'हिंसक' होने चाहिएँ? दूसरे का बदला लेनेवाले होने चाहिएँ? दयानन्द का स्मरण कर हमें अपने हृदयों को इतना विशाल बनाना चाहिए कि हम अपने दुःख देनेवाले पर दया के अतिरिक्त और कुछ कर ही न सकें। अवश्य ही यह जानकर कि मेरी हिंसा करनेवाला अज्ञानी परमात्मा के अटल नियमों का

शिकार होगा, उस बेचारे पर दया ही आनी चाहिए, न कि स्वयं क्रोध कर दण्ड का भागी बनना चाहिए। इसलिए इस मास हमें यही वेद का उपदेश है कि—

"हिंसा मत करो!"

हिंसा करनेवाले को परमात्मा पर छोड़ दो! हम तो अल्पज्ञ हैं। बहुत बार अपनी भलाई को भी हम तो हिंसा समझ लेते हैं, और यदि ऐसे समय भी बदला लेने लगते हैं तो कितनी घोर मूर्खता में पड़े होते हैं! वह सर्वत्र परमात्मा ही सबको ठीक जानता और सबको सदा ठीक दण्ड देता है। यह उसी का काम है। हमें तो अपने हिंसक को परमात्मा पर छोड़ अपनी रक्षा के लिए भी परमात्मा ही की शरण पानी चाहिए। पर आप शायद कहेंगे कि हमें तो विश्वास नहीं होता कि परमात्मा पाप का दण्ड देता है। दयानन्द जैसे महात्माओं को यह विश्वास था, अतः वे अहिंसा कर सकते थे, परन्तु यह याद रखना चाहिए कि विश्वास यों ही किसी को नहीं हो जाता। महात्माओं को भी कर्म करने से ही धीरे-धीरे विश्वास पैदा हुआ होता है। आप भी अहिंसा का पालन शुरू कीजिए, जो आपकी हिंसा करे उसका प्रतिहिंसा में जवाब मत दीजिए। कुछ समय में यदि यह सत्य है तो इसपर अवश्य विश्वास हो जाएगा। मैं तो कहता हूँ **'मो अहं द्विषते रधम्'** यह वेद की आज्ञा है, इसे स्वतःप्रमाण मानकर अहिंसा का व्रत लीजिए तो थोड़ा-सा अहिंसा पर आचरण करने से आपमें इसके लिए थोड़ी-सी श्रद्धा अवश्य उत्पन्न होगी, उस श्रद्धा से आप और अधिक-अधिक अहिंसक बनेंगे और तब और अधिक-अधिक श्रद्धा बढ़ेगी। यह ठीक है कि व्यवहार में बहुत बार यह पता लगाना कठिन होता है कि अमुक कार्य हिंसा है या अहिंसा। इसके लिए प्रेरक भाव को देखना चाहिए। जो कार्य हम क्रोधवश, बदले के भाव से करते हैं वह हिंसा है। क्रोध एक विकार है। वही किसी कर्म को 'हिंसा' बनाता है। उसके वशीभूत नहीं होना है। यही मुख्य बात है। क्रोध छोड़ने से ही हम अहिंसक बनेंगे। असल में परमात्मा की प्राप्ति की तरफ़ चलते हुए हमें दिनों-दिन अहिंसक ही होना होगा, क्योंकि और सब गुणों की तरह अहिंसा की भी भगवान् पराकाष्ठा है। धर्मों में अहिंसा तो परम धर्म है। योगशास्त्र में यम-नियमों पर व्याख्या करते हुए व्यास भगवान् ने कहा है कि अहिंसा इन सबका मूल है, अन्य सब धर्म तो अहिंसा को पुष्ट करने के लिए ही बताये जाते हैं। असल में एक धर्म अहिंसा है। इसकी सचाई का अहिंसा के पालन करनेवाले को ही पता लग सकता है। आशा है हम इस परम धर्म को आज से अपने जीवन में लाने का सतत यत्न करते हुए अपने जीवन को कृतकृत्य बनाएँगे।

[१२]

विश्व-प्रेम

दृते दृꣳह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्। मित्रस्याऽहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥

—यजु: अ। ३६। १८

"हे अज्ञानान्धकार के निवारक देव! मुझे सब भूत मित्र की दृष्टि से देखें। मैं सब भूतों को मित्र की दृष्टि से देखूँ। एवं हम सब परस्पर मित्र की दृष्टि से देखा करें, इस प्रकार हमें आप दृढ़ कीजिए।"

इस मन्त्र में जिस धर्म का प्रतिपादन किया गया है, यदि हम सब अन्त में इसे अपने जीवन में चरितार्थ करेंगे तो हम निस्सन्देह कृतकृत्य हो जाएँगे। पिछली बार अहिंसा धर्म का उल्लेख हुआ है। अहिंसा शब्द जिस बात का निषेधात्मक रूप में वर्णन करता है, उसी का भावात्मक रूप विश्वप्रेम है। यदि हम सब भूतों को, सब प्राणियों को मित्र-दृष्टि से देखने लगें तो हमारे बहुत-से पाप भी स्वयमेव दूर हो जाएँ। क्योंकि, तब हम ऐसे ही सब कर्म करेंगे जैसे कि एक मित्र के साथ करने चाहिएँ। मित्र अपना होता है और उसके साथ आत्मवत् प्रेमदृष्टि से व्यवहार किया जाता है। इसलिए तब हम सुवर्णीय नियम के अनुसार दूसरे से वैसा ही वर्ताव करेंगे जैसा कि हम अपने लिए वर्ताव चाहते हैं। इस प्रकार तब हम किसी को भी (सभी हमारे मित्र हैं) कष्ट नहीं पहुँचाएँगे, क्योंकि हम स्वयं कष्ट नहीं पाना चाहते, किसी को धोखा नहीं देंगे, क्योंकि हम धोखा खाना नहीं चाहते; किसी का माल नहीं चुराएँगे, क्योंकि अपना माल चोरी होना नहीं चाहते। इसी प्रकार मित्र-दृष्टि प्राप्त कर लेने पर अन्य सब धर्म के अंग भी अपने-आप पाले जाएँगे। यही इस धर्म का माहात्म्य है। अब ज़रा अपनी कल्पना में एक छोटे समुदाय को ही चित्रित कीजिए, जहाँ कि सब परस्पर एक-दूसरे को मित्र-दृष्टि से देखते हों, मतभेद रखते हुए भी प्रेम करते हों, परोपकार में रत हों, परस्पर एक-दूसरों के अधिकारों की चिन्ता रखते हों, तो आपके सामने सच्चे स्वर्ग का दृश्य आ जाएगा। क्या आप इस स्वर्ग को नहीं लाना चाहते? शायद आपका विचार एकदम बाहिर जाएगा और आप कहेंगे कि हम तो इस स्वर्ग को लाना चाहते हैं, किन्तु अन्य लोग इसे नहीं लाने देते। यह शिकायत तभी तक है जब तक कि स्वयं इसके लिए यत्न नहीं किया जाता। एक ही जगत् एक आदमी

के लिए स्वर्ग और दूसरे के लिए नरक हो सकता है। यह अपने हाथ में है। इसीलिए इस वेद-मन्त्र में चाहा गया है कि सब मुझे मित्र-दृष्टि से देखें, और फिर उसका उपाय बताया गया है कि मैं सबको मित्र की दृष्टि से देखूँ। सबको स्वयं मित्र-दृष्टि से देखना शुरू कीजिए, सब आपके मित्र हो जाएँगे और आपको स्वर्ग मिल जाएगा। पतञ्जलि मुनि तो कहते हैं तब आपके चारों ओर के प्राणी भी आपस में वैर नहीं कर सकेंगे। क्या उन्होंने यह यों ही कह दिया है? नहीं, हम अपने प्रेम से सचमुच संसार को नया बना सकते हैं। यही योग है, यही परमात्मा की प्राप्ति है। सब जगत् में अपने प्रेम को फैला देना ही परमात्म-प्राप्ति है, क्योंकि परमात्मा का सब जगत् में—जगत् के क्षुद्र-से-क्षुद्र प्राणी में—पुत्रवत् प्रेम है, वात्सल्य है, वे सबके पिता हैं। यदि हम सबको अपना भाई समझें, प्राणिमात्र में मित्र-दृष्टि रक्खें तो हम अपने-आपको परमात्मा के अनुकूल करते हैं, परमात्मा के पितृस्वरूप को साक्षात् देखते हैं, एवं भक्त पुरुष हरएक वस्तु में परमात्मा को ही देखते हैं और हरएक वस्तु से प्रेम करते हैं। इसीलिए मैं कहता हूँ कि सब प्राणियों में प्रेम-दृष्टि करना परमात्मा के पास पहुँचना है। सब महापुरुष इसी प्रकार पहुँच चुके हैं। ऋषि दयानन्द ने अपना प्रेम सब जगत् में फैला दिया था। वे प्राणिमात्र के बन्धु थे। इसलिए यदि आप भी वहीं पहुँचना चाहते हैं तो विश्व-प्रेम को अपना आदर्श बनाइये।

प्रेम का सूर्य हरएक जीव के अन्दर छिपा हुआ है। वह कभी अपने सहस्त्रों किरणों में जगमगा उठ सकता है, परन्तु उसके मार्ग में एक बाधा है, रुकावट है। यदि यह रुकावट दूर हो जाय तो फिर किरणों के फैलने में क्या देर लगती है! यह है **स्वार्थ, ख़ुदग़र्ज़ी,** जो कि हमारे मार्ग में एकमात्र बाधा है। इसे ही अस्मिता, अहंकार, अविद्या आदि शब्दों से वर्णन किया किया जाता है। यही वृत्र है जिसने इस सूर्य को ढाँप रक्खा है। इसी पर जय प्राप्त करने के लिए वेदों में वर्णन है। हमें यह समझ लेना चाहिए कि 'स्वार्थ ही हमारा एकमात्र शत्रु है'। जितना-जितना हम स्वार्थ के आवरण को हटाएँगे, उतना-उतना ही हमारा प्रेम का सूर्य फैलता जाएगा। हम अपने स्वार्थ को ही हटाते हुए अपना स्वर्ग स्थापित कर सकते हैं, और कोई बाधा इसमें नहीं है। इसलिए आइये अब देखें कि हम स्वार्थ-ग्रस्त पुरुष किस क्रम से बढ़ते हुए अपने प्रेम-सूर्य को पूर्ण विकसित कर सकते हैं।

पहला क़दम है अपने परिवार में इस स्वर्ग का राज्य स्थापित करना।

माता-पिता, पत्नी-पति, भाई-बहिन आदि सब परिवार के सभ्य परस्पर स्नेह-दृष्टि से देखें, मधुर वाणी बोलें, एक-दूसरे की सहायता करते हुए मिलकर रहें। परिवार में सबसे पहले मनुष्य 'मुझे वैयक्तिक स्वार्थ में ही ग्रस्त नहीं रहना चाहिए' यह सीखता है। परन्तु परिवार के लिए स्वार्थ-त्याग करना कुछ कठिन नहीं है। जो लोग अपने परिवार में ही प्रेम का राज्य नहीं ला सकते, वे आगे समाज या देश की क्या सेवा कर सकेंगे, यह बात अनुभव करनी चाहिए। यदि परिवार में शान्ति नहीं है तो पहले अपने प्रेममय और स्वार्थत्यागमय व्यवहार से परिवार को यह पाठ पढ़ाना होगा। यदि शान्ति है तो आप आगे देखें।

अब अपने समाज में या अपने नगर में आपके सब मित्र होने चाहिएँ। हरएक मनुष्य के साथ आपका मित्र-सदृश स्नेह का वर्ताव होना चाहिए। यदि आप अपने नगर या अपने समाज के लिए अपने स्वार्थ त्यागने को तैयार हैं तो आपके लिए वहाँ कोई अमित्र नहीं रहेगा। इसलिए अपने दिल से पूछिये कि अपने नगर में या अपने समाज में मेरी किसी से शत्रुता तो नहीं है? यदि है तो उसे त्यागिये और अपने स्वार्थत्याग से शत्रु को भी अशत्रु बनाइये। परन्तु मैं यहाँ आगे चलने से पूर्व एक स्पष्ट प्रश्न पूछ लेना चाहता हूँ—कहीं आप पुराने संस्कारों के वश या उनमें बहकर यह तो नहीं भूल गये कि जिन्हें आजकल 'अछूत' कहा जाता है वे भी आपके नगर के और समाज के भाई हैं? क्या वे भी आपके साथ मित्रवत् एक चटाई पर बैठ सकते हैं? कुएँ पर चढ़ सकते हैं? यदि नहीं तो सोचो कि क्यों? क्या वे भाई नहीं? यदि भंगी का कार्य मलिन है तो क्या यह कार्य हमारी माताएँ नहीं करतीं, डॉक्टर लोग नहीं करते? फिर क्या बात है? यदि वे मलिन रहते हैं तो यह तुम्हारे स्वार्थ के कारण है। पुराने ग्रन्थों में पाख़ाने कमाने का पेशा करनेवाली का कहीं ज़िक्र ही नहीं है, इसके लिए 'शब्द' ही नहीं है। यदि वे हमारे लिये सफ़ाई का इतना उपयोगी कार्य करते हैं तब तो हमें उनका बड़ा एहसानमन्द होना चाहिए; उनको दुत्कारना किस तर्क से सिद्ध होता है? यदि आप इन बातों को बहुत सुन चुके हैं तो पहले स्वार्थ को धोकर अपने को पवित्र कीजिए, तब तुरन्त आपका प्रेम इन परम उपकारी किन्तु पीड़ित जीवों तक फैल जाएगा, आप पश्चात्ताप कर इन्हें अपनाएँगे। आपके मित्रवत् व्यवहार को देख ये स्वयमेव अपने को स्वच्छता से भी रक्खेंगे। समझ में नहीं आता कि जो इनमें से स्वच्छ रहते हैं उन्हें भी स्पर्श करने तक में झिझक क्यों होती है? क्या उनमें आत्मा नहीं है? उनमें आत्मा और परमात्मा का वास यदि उन्हें हमारे लिए छूने

तक के योग्य पवित्र नहीं बना देता तो निस्सन्देह हम ही अपवित्र हैं। क्या आर्यसमाज में भी ऐसे व्यक्ति हैं जो इन्हें छू नहीं सकते, जिनके बच्चे इनके बच्चों के साथ पढ़ नहीं सकते, जिनके कुओं पर से ये बेचारे जल नहीं भर सकते? यदि ऐसा है तो इस खाई को बिना भरे आगे नहीं चल सकते। जब तक हम अपने समाज में अपने एक-एक भाई को मित्र का स्वाभाविक हक़ नहीं दे देंगे, तब तक हम समाज ही नहीं बना सकते और इसीलिए हमारे दुःख भी नहीं टल सकते। इस प्रश्न को बिना हल किये हमारे लिये कुछ चारा नहीं है। यदि हम अपने क्षुद्र स्वार्थों की बलि देने से न डरें तो आर्यसमाज एक झटके में अस्पृश्यता को दूर कर सकती है।

अस्तु, एवं समाज के एक-एक व्यक्ति में हमारा मित्र-भाव का प्रेम फैल जाना चाहिए।

आगे हमारा कुटुम्ब देश बनता है। इस कुटुम्ब का अनुभव पाठक देश-भक्ति के प्रकरण में कर चुके हैं। मातृभूमि के सब पुत्र हमारे भाई हैं। सब हिन्दू, सब मुसलमान, सब ईसाई, सब सिक्ख हमारे भाई हैं। प्रायः हम लोगों का प्रेमविस्तार अभी अपनी छोटी क़ौमों और फ़िरक़ों से ऊपर नहीं उठा है। इसलिए इस क़दम के बढ़ाने में हमें विशेष यत्न की ज़रूरत है। हमारा प्रेम सम्पूर्ण देश में फैल जाए और हम देश के लिए अपने सब स्वार्थों को बलिदान कर दें। मातृभूमि की सेवा करने के लिए बेशक हमें बहुत अधिक स्वार्थहीन होना पड़ेगा, परन्तु इस स्वार्थहीनता वा प्रेमविस्तार से ही हमें सुख मिलेगा, क्योंकि ऐसा करने से हम परमात्मा के अधिक नज़दीक पहुँचेंगे। देश के सब वासियों के सुख में हम अपना सुख समझें, उनके दुःख से हम दुःखित हो जाएँ। देश-भाइयों की ऐश्वर्य-वृद्धि में हम अपने को धनी समझें और उनकी निर्धनता में अपनी निर्धनता। सारे देश में अपना प्रेम फैलाने का यही अर्थ है, और इसी प्रेमविस्तार द्वारा हम अपने देश में स्वर्ग ला सकते हैं। यह कोई कठिन काम नहीं है, क्योंकि संसार के बहुत-से देशों के लोग अपने इस देश-प्रेम के बल से सुख भोगते हुए हमारे सामने विद्यमान हैं। परन्तु इस प्रकरण को समाप्त करने से पूर्व भी अपने आर्य भाइयों का एक बात की तरफ़ ध्यान आकर्षित करना ज़रूरी है। यह प्रायः कहा जाता है और इसमें सच्चाई भी ज़रूर है कि हममें 'पर-मत-सहिष्णुता' की कमी है। हम कई बार अपने देश-भाइयों से केवल मज़हबी मतभेद के कारण घृणा करने लगते हैं और लड़ने-झगड़ने तक लगते हैं। यह त्रुटि बड़ी आसानी से दूर की जा सकती है और हमें ज़रूर दूर कर डालनी चाहिए। **मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे** का वैदिक संदेश रखनेवालों को क्या यह भी बतलाने की ज़रूरत है कि धर्म का प्रसार प्रेम

से ही होता है? अस्तु। हम देश के सब भाइयों को अपनी मातृभूमि के लिए प्रेम-सम्बन्ध कर मिल जाना चाहिए और इसलिए अपना सब-कुछ बलि चढ़ा देना चाहिए, तथा अधिक बलि की ज़रूरत हो तो उसे चढ़ाने के लिए भी तैयार रहना चाहिए।

अगला क़दम है सार्वभौम प्रेम—संसार के सब मनुष्यों से प्रेम, मनुष्य-जाति से प्रेम। हमारी देशभक्ति दूसरे देशों से द्वेष के लिए नहीं। इस समय जो जगत् में एक देश देश-भक्ति के नाम पर दूसरे देश को हानि पहुँचा रहा है, दूसरी जाति को पीड़ित कर रहा है, इस द्वेषभाव को दूर करने का सामर्थ्य भी इसी वेदाज्ञा के पालन में है, और इसकी महान् ज़िम्मेवारी वैदिक धर्म के माननेवालों पर है। हमारा देशप्रेम जगत्प्रेम के विरुद्ध न होवे, यह हमें ध्यान रखना चाहिए! इसके लिए हमें और भी अधिक बलिदान करने की ज़रूरत होगी, पर इससे संसार का परम लाभ होगा। यह आर्यसमाज का कर्त्तव्य है कि उसकी स्वदेश-भक्ति में परदेश-द्वेष न आने पावे। अंग्रेज़, फ्रेंच या जापानी भी हमारे भाई हैं। वे मनुष्य-जाति में होने से हमारे भाई हैं, जगन्माता के पुत्र होने की हैसियत से हमारे भाई हैं। तभी हम वैदिक धर्म को सार्वभौम कह सकेंगे और कुछ महत्त्व के साथ यह प्रार्थना कर सकेंगे कि **"मित्रस्याऽहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।"**

परन्तु मनुष्यमात्र तक पहुँचकर भी कोई प्रेमविस्तार की अवधि नहीं हो जाती। वेद ने तो कहा है 'भूतानि' अर्थात् सब प्राणी, केवल मनुष्य नहीं। सब प्राणिमात्र में हमारा प्रेम होना चाहिए। पशु-पक्षी आदि की जान को भी अपने-जैसा समझना चाहिए। यहाँ तक अनुभव करना 'वैदिक धर्म' की ही विशेषता है। कहते हैं कि एक यूरोपीय पुरुष ने बंगाल के बड़े दुष्काल में आश्चर्य से देखकर कहा था कि ये लोग भूखे मर जाते हैं, परन्तु पशु-पक्षियों को मारकर खाकर अपना जीवन बचाने की चेष्टा तक नहीं करते। यह घुसे हुए वैदिक धर्म के अवशेष का ही चिह्न था। जहाँ पशुओं का मारना दैनिक कार्य है वहाँ के लोगों को आश्चर्य होना स्वाभाविक है। परन्तु वेद में तो सब जगह 'द्विपाद चतुष्पाद' के भले की इकट्ठी प्रार्थनाएँ होती हैं। बेचारे पशु-पक्षी हमसे लड़कर, भिड़कर कुछ नहीं ले सकते; बहुत-कुछ हमारी दया पर हैं; अतएव इन्हें प्रतिदिन हमें ही देना चाहिए, यह वेद हमें सिखाता है। गोरक्षा के धर्म होने में यही रहस्य है। वहाँ गौ इन सब दीन प्राणियों की प्रतिनिधि होती है। कहते हैं कि स्वामी दयानन्दजी को एक बार एक आदमी ने देखा कि उनके क़लम पर मक्खी

बैंठ गयी तो उन्होंने तब तक लिखना बन्द रक्खा जब तक कि वह स्वयं उड़ न गयी। स्वामी रामतीर्थ साँप को भी भाई कहके पुकारते थे। अमेरिकन एमर्सन भिड़ों के छत्ते के पास रहता था। मतलब यह है कि प्राणिमात्र के अन्दर मित्र-दृष्टि होनी चाहिए। अपने प्रेम से जगत् को भर देना चाहिए, प्राणी ही क्यों, कोई भी वस्तु (भूत) ऐसी नहीं होनी चाहिए जहाँ कि हम प्रेम से न देख सकें। भूत का असली अर्थ तो उत्पन्न हुई एक-एक वस्तु है। महात्मागण संसार की एक-एक घटना में भी, दुःख में भी प्रेम करते हैं। उन्हें हरएक वस्तु में हरएक बात में परमात्मा ही दिखाई देते हैं, और वे सदा प्रेम ही करते हैं। स्वार्थ को, कामना को सर्वथा त्याग देने से यह स्थिति प्राप्त होती है। जब सब स्वार्थों की बाधाओं को दूर कर प्रेम का सूर्य जगत् में व्याप जाता है, उस अवस्था का ही वर्णन वेद में किया है कि—

तत्र को मोहः कः शोकऽएकत्वमनुपश्यतः।

आशा है हम भी स्वार्थ को नष्ट करते हुए जहाँ तक पहुँच चुके हैं उससे आगे प्रेम को विकसित करने का यत्न करेंगे और इस शिक्षा को कभी नहीं भूलेंगे कि—

मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥

॥ इति ओ३म् शम्॥